देश्य

संरक्षण तथा प्रसार।

विवेचन।

अनुसंधान।

न और कला का पर्यालोचन।

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणत: एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

★

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के त्रैवार्षिक खोज-विवरण

उत्तरप्रदेशीय सरकार की सहायता से सभा द्वारा जो हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य होता है उसके सन् १९०० से १९२५ तक के विवरण उक्त सरकार द्वारा अंग्रेजी में छाप [illegible] से ४९ तक के विवरण अब तक अमुद्रित पड़े थे। अब सरकार [illegible] सहायता एवं अनुमति से सभा ने उन्हें गत वर्ष से हिंदी में छापना आरंभ किया है। [illegible] है—

(१) सन् १९२६-२८; संपादक डा० [illegible] अठपेजी पृष्ठ सं० ८४८; सजिल्द; मू० २१)

(२) सन् १९२९-३१; संपादक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; रा० [illegible] पृष्ठ सं० ७०६; सजिल्द, मू० १५)

तुलसी की जीवन-भूमि

ले०—श्री चंद्रबली पांडेय

गोस्वामी तुलसीदास जी के जन्मस्थान तथा जीवनवृत्त के संबंध में कई भिन्न भिन्न मत साहित्य-समाज में प्रचलित हैं। कोई उन्हें काशी का, कोई राजापुर का और कोई सूकरखेत का कहता है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने तर्क और अध्ययन की कड़ी कसौटी पर रखकर उन समस्त मतों का विवेचन करते हुए, स्वयं गोस्वामी जी की रचनाओं से, यह निष्कर्ष निकाला है कि वे कहाँ के थे और उनका जीवनवृत्त क्या था। लेखक ने गोस्वामी जी के समसामयिक संतों और कवियों की रचनाओं की, सरकारी कागज-पत्रों की, तथा ऐसी समस्त अन्यान्य सामग्री की छानबीन अत्यंत बारीकी से की है और उन्हीं के आधार पर अपना पक्ष उपस्थित किया है। संक्षेप में, विद्वान् लेखक की दृष्टि बड़ी पैनी और सूक्ष्म तथा सिद्धांत सर्वथा मौलिक हैं। तुलसी का अध्ययन करनेवालों के लिये इस ग्रंथ का परिशीलन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। बढ़िया ऐंटिक कागज पर छपी ३०० से अधिक पृष्ठों की पक्की जिल्द की इस पुस्तक का मूल्य केवल ३) है।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रण, काशी।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५९] संवत् २०११ [अंक १

संस्कृत कोशों के शब्द-संकलन के प्रकार[1]

[श्री रामशंकर भट्टाचार्य]

सभी प्रकार का ज्ञान हमें शब्दों के द्वारा ही होता है। अतः ज्ञान एवं नित्य के व्यवहार के लिये भी शब्द का ठीक-ठीक बोध होना अत्यावश्यक है। यह कहना अनावश्यक है कि शब्द का ठीक-ठीक बोध उसके स्वरूप का ही नहीं, उसके अर्थ का भी शुद्ध बोध है। शब्द के अर्थ का ज्ञान प्रधानतया हमें कोश के द्वारा सुलभ होता है। अतः जितना अच्छा कोश होगा उतनी ही सरलता एवं पूर्णता से हमें उसके द्वारा शब्दों का अर्थ प्राप्त होगा।

श्रेष्ठ कोशों से हमें शब्दों के रूप, लिंग, व्युत्पत्ति, अर्थ, प्रयोग, पर्याय आदि अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त होता है। परंतु कोश में यदि हजारों-लाखों शब्दों का अर्थ-सहित संग्रह यों ही बिना किसी नियम के कर दिया जाय तो उससे अर्थबोध होना तो दूर, किसी वांछित शब्द को उसमें से ढूँढ़ निकालना ही संभव न होगा। अतः सुकरता की दृष्टि से कोशों में शब्दों का संकलन किसी विशेष पद्धति के अनुसार किया जाता है।

प्राचीन काल में संस्कृत कोशों में शब्द-संकलन की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ प्रचलित थीं। आज जब हिंदी में कोश-रचना के लिये अनेक प्रकार के प्रयास किए जा रहे

१—'कल्पद्रु' कोश की श्री रामावतार शर्मा लिखित अंग्रेजी भूमिका से इस निबंध में कुछ सहायता ली गई है, तदर्थ उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हैं तब हमारे लिये यह भी देखना आवश्यक हो जाता है कि संस्कृत भाषा के कोश-ग्रंथों में किस प्रकार से शब्दों का संकलन किया जाता था। यद्यपि शब्द-संकलन के वर्तमान काल के प्रयोजनों और प्राचीन काल के प्रयोजनों में भेद है, अतः यह आवश्यक नहीं कि हिंदी कोश सर्वथा संस्कृत-कोशानुसारी ही निर्मित हों, तथापि हम संस्कृत कोश-रचना-पद्धति से बहुत-कुछ लाभ उठा सकते हैं; इसलिये संस्कृत कोशों की शब्द-संकलन-पद्धति का अध्ययन हमारे लिये आवश्यक है।

कोश का साधारण लक्षण है—'कोशः शब्दस्य संग्रहः।' पर शब्द-संकलन अपने प्रयोजन की विविधता तथा रचयिता के मेधा-प्रकर्ष के अनुसार एक सजीव वस्तु बन जाता है, जिसके अध्ययन से भाषा-संबंधी अनेक गूढ़ रहस्यों का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

इस विषय में यह पहले ही जान लेना चाहिए कि आज संस्कृत के प्राचीनतम कोश-ग्रंथ अप्राप्य हैं और वस्तुतः अमरकोश से प्राचीन कोई भी कोश मुद्रित रूप में उपलब्ध नहीं है। पर प्राचीन कोशों के अनेक वचन उपलब्ध कोशों की टीकाओं में मिलते हैं, जिनके परीक्षण से यह निश्चित रूप से विज्ञात होता है कि उद्धृत कोश में शब्दों का संकलन किस रीति से किया गया था। कुछ कोशों के नामों से भी उनके शब्द-संकलन की पद्धति का पता चलता है। साथ ही यह भी विज्ञेय है कि एक ही कोश में एकाधिक प्रकार से शब्द-संकलन किया गया था, अतः यहाँ कोशानुसार संकलन-प्रकार दिखाने की अपेक्षा संकलन-प्रकार के अनुसार कोशों का उल्लेख करना अधिक समीचीन समझा गया है, जिससे पुनरुक्ति दोष न आ जाय।

१—शब्द-स्वरूप की दृष्टि से कोशों के तीन विभाग हो सकते हैं—वैदिक, लौकिक तथा उभयात्मक। यास्क के निघंटु को वैदिक कोश कहा जा सकता है। उन्होंने ग्रंथारंभ में कहा है—"समाम्नायः समाम्नातः" और समाम्नाय शब्द वैदिक शब्द के लिये आता है (समस्यते मर्यादया अयम् इति समाम्नायः, स च ऋषिभिः मन्त्रार्थपरिज्ञानाय उदाहरणभूतः पञ्चाध्यायी—दुर्ग, निरुक्त टीका १।१)। दुर्ग के इस वाक्य से सूचित होता है कि समाम्नाय जो समाम्नात हुआ, उसका कारण मंत्रार्थ-परिज्ञान है, सुतरां यह सिद्ध होता है कि निघंटु की रचना मूलतः वैदिक शब्दार्थ-ज्ञान के लिये हुई थी। निघंटु के प्राग्भावी कोशों की रचना-पद्धति आज ग्रंथों के लोप के कारण ज्ञात नहीं हो सकती, अतः उस विषय में अनुमान न करना ही उचित होगा।

उद्देश्य

का संरक्षण तथा प्रसार।
ा विवेचन।
का अनुसंधान।
ज्ञान और कला का पर्यालोचन।

न

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

अमर आदि कोशों को सर्वथा लौकिक कहा जा सकता है, क्योंकि वैदिक शब्द-संकलन के लिये ग्रंथकारों ने कुछ भी प्रचेष्टा नहीं की। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि सर्वथा लौकिक कोशों में भी कुछ वैदिक शब्द संकलित हो ही गए हैं (जैसे अमरकोश में आशुशुक्षणि, सव्येष्ठ, अभ्रिय इत्यादि)। इसका कारण यह है कि इस भाषा में लौकिक-वैदिक रूप शब्द-विभाग तात्त्विक नहीं है, और यदि दोनों प्रकार के शब्दों में कुछ तात्त्विक भेद माना भी जाय, तो उन दोनों की एक निश्चित स्थूल सीमारेखा का निर्देश करना सर्वथा असंभव है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक आचार्य जिस शब्द को वैदिक या लौकिक मानता है, अन्य आचार्य उसको उसके विपरीत मानता है, अतः कभी-कभी लौकिक-वैदिक शब्दों का मिश्रण हो जाना असंभव नहीं है।

संस्कृत वाङ्मय में कुछ कोश ऐसे भी थे, जिनको ग्रथकारों ने स्वेच्छा से लौकिक-वैदिक शब्दात्मक बनाया था। वैजयंती कोश में इतने अधिक वैदिक शब्दों का संकलन है कि यह मानना उचित होगा कि ग्रंथकार ने स्वेच्छा से उन शब्दों को वैदिक जानकर ही संकलित किया था, क्योंकि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वे शब्द वैजयंती कोश (जो अप्राचीन कोश है) के काल में लौकिक समझे जाते थे। अतः मानना ही पड़ता है कि इस कोश का शब्द-संकलन वैदिक-लौकिक उभयात्मक है।

इस विषय का अन्य उदाहरण दशपादी उणादि वृत्ति में मिलता है। इस ग्रंथ में कुछ कोश-वचन उद्धृत हैं (पृ० २९, १२४, १९१, १९२, २३६ इत्यादि)। इन सब वचनों की शैली सर्वथा समान है, अतः यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि ये वचन किसी एक ही कोश के हैं। अब हम देखते हैं कि इन वचनों में जैसे 'हरि' आदि लौकिक शब्द हैं, वैसे 'तरसान', 'मंदसान' आदि वैदिक शब्द भी हैं। इससे यह अनुमान करना असंगत नहीं कि इस कोश में दोनों प्रकार के शब्दों का संकलन था।[२]

२—शब्द-जाति के अनुसार संस्कृत कोशों के चार विभाग हो सकते हैं, क्योंकि इस भाषा में शब्द मुख्यतः चार प्रकार के हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इनमें नाम शब्द ही प्रधान हैं, क्योंकि आख्यात का प्रयोग नाम के अधीन होता है (आख्यातस्य नामपदवाच्यार्थाश्रयक्रियोपलक्ष्यत्वात्—दुर्ग, निरुक्त टीका,

२—विशेष द्रष्टव्य, वृत्ति की संपादक लिखित भूमिका।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५९] संवत् २०११ [अंक २

प्राचीन भारतीय पंचांग और राम-चरित समयावली[1]

[श्री राय कृष्णदास]

१

अपने उषः सूक्त ऋ० के सबसे रंगीन सूक्त हैं। यही नहीं कि हमने उषा की अरुणिमा में रस लिया हो, उसके साथ-साथ हमने रात के कालेपन में भी रस लिया (ऋ० १।७३।७)। सूर्योदय का कवित्वमय वर्णन ऋ० में कितनी ही बार आया है, जिसका एक प्रतिनिधि उदाहरण ऋ० ५।४५।१० है। चंद्रमा और नक्षत्रों

१—इस लेख में व्यवहृत संकेत—

अथर्व०=अथर्व वेद, ऋ०=ऋग्वेद, ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण, कृष्ण० = कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता), कौ० ब्रा० = कौशीतकी ब्राह्मण, छांदोग्य० = छांदोग्य उपनिषद्, तै० आ०=तैत्तिरीय आरण्यक, तै० ब्रा० = तैत्तिरीय ब्राह्मण, पंच०=पंचविंश ब्राह्मण, यजु० = दोनों यजुर्वेद, लगध० = लगध मुनि कृत आर्च तथा याजुष ज्योतिष वेदांग, लग० = लगभग, विष्णु० = विष्णु पुराण, शत०=शतपथ ब्राह्मण, शुक्ल० = शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)।

वाल्मीकि० = वाल्मीकीय रामायण। इस समय रामायण की मुख्य तीन वाचनाएँ प्रचलित हैं—दाक्षिणात्य, गौड़ एवं पश्चिमोत्तरीय। इस लेख में रामायण के जो अवतरण दिए गए हैं वे दाक्षिणात्य वाचना (कुंभकोणम् संस्करण) के हैं। संयोगवश

१।१)। इसके अतिरिक्त नाम के प्रयोग की जितनी अधिकता तथा विविधता है उतनी क्रियापदों की नहीं। उपसर्ग तथा निपात भाषा में अप्रधान हैं, क्योंकि एक तो इनकी संख्या नाम की तुलना में स्वल्प है, और दूसरे नाम शब्दों का जैसा स्वकीय अर्थ होता है वैसा निपात और उपसर्ग का नहीं। किंच भाषा में इन दोनों का स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता, नाम या क्रियापद के साथ ही होता है। अतएव सभी कोशों में नाम शब्दों की ही प्रधानता पाई जाती है।[3]

अब देखना चाहिए कि नाम-संबंधी कोशों में शब्द-संकलन कितने प्रकार से किया गया है। नामों के संकलन में प्राचीन आचार्यों की दो मुख्य पद्धतियाँ थीं, जिनके अनुसार कोशों के दो विभाग किए जा सकते हैं–एकलिंगमात्रपरायण कोश, दूसरा नाममात्रपरायण कोश। किस पद्धति से इनकी रचना की जाती थी, इसका यद्यपि विशद ज्ञान होना ग्रंथाभाव के कारण संभव नहीं है तथापि उद्धरणों के आधार पर कुछ विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

१–लिंगपरायण कोश—अमरकोश की व्याख्या में सर्वानंद ने कहा है—"व्याडिवररुच्यादिप्रणीतानि तु लिङ्गमात्रतंत्राणि" (टीका के आरंभ में), अर्थात् व्याडि तथा वररुचि आदि के कोश केवल लिंगपरायण थे। इन कोशों के अभाव में आज यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनकी 'लिंगमात्र-परायणता' किस प्रकार की थी। पर वररुचि का एक वचन भानुजि ने उद्धृत किया है (भवति नपुंसकयोगः संख्यापूर्वस्य रात्रिशब्दस्य—अमरकोश टीका, पृ॰ ४५), जिससे पता चलता है इन कोशों में, किस अवस्था में किस शब्द का कौनसा लिंग होता है इसका निर्देश था। नामकोश में भी लिंग-संबंधी अनुशासनों का संकलन होता था, ऐसा स्पष्ट विदित होता है।[4]

गोपालित आदि कोशों की लिंगानुसारिता (सर्वानंद के अनुसार) किस प्रकार की थी—इसका कुछ अवभास अन्य कोशों को देखकर मिल सकता है। सर्वानंद ने

३—इस लेख के अंतिमांश में आख्यात, उपसर्ग तथा निपात संबंधी कोशों का विवरण दिया जायगा।

४—व्याडि का एक वचन भानुजि ने उद्धृत किया है—'लक्ष्मी-सरस्वती-धात्रि-वर्णसंपद्-विभूति-शोभासु, उपकरणवेशरचनाविधावेषु च श्रीरिति प्रथिता' (अमर-टीका, पृ॰ ११); पर इस वचन से व्याडि-कोश की लिंगपरायणता पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

कहा है—'ननु रत्नकोशादिवत् स्त्री-पुं-नपुंसककांडविधानेनैव वक्तुम् उचितम्' (अमर-टीका), जिससे विज्ञात होता है कि लिंगपरायण कोशों में मुख्यतः तीन कांड होते थे—स्त्रीकांड, पुंकांड, तथा नपुंसक कांड। ऐसा वाक्य क्षीरस्वामी ने भी कहा है—'मालाकारो हि स्त्रीलिंगादीन् प्रकरणैः निरदिक्षत्' (अमर-टीका), अर्थात् अमरमाला कोश के कर्ता ने स्त्रीलिंग आदि को अलग-अलग प्रकरणों में रखा था। इस कोश में 'पुंस्कांड' तथा 'स्त्रीकांड' रूप विभाग था—इसका प्रमाण राय-मुकुट की टीका (इति पुंस्कांडे अमरमाला) तथा त्रिकांड-चिंतामणि (स्त्रीकांडे अमरमाला) से भी स्पष्ट रूप से मिलता है।

लिंग के त्रिविध होने के कारण ऐसे कोशों में सर्वत्र तीन ही विभाग किए गए हों, ऐसी बात नहीं है। 'शब्द-लिंगार्थ-चंद्रिका' में एकलिंग-द्विलिंग-त्रिलिंग रूप विभाग भी दिखाई पड़ता है। अन्य कोशों के विभाग 'पुं-स्त्री-नपुंसक-वाच्यलिंग-नानालिंग रूप हैं। वैजयंती कोश में 'अनेकार्थक' अंश है, उसमें पुंलिंगाध्याय, स्त्रीलिंगाध्याय, नपुंसकलिंगाध्याय, अर्थवल्लिंगाध्याय, तथा नानालिंगाध्याय रूप ग्रंथ-विभाग हैं।

लिंग का निर्देश प्रायः उस लिंग में शब्द का रूप देकर किया गया है, पर कहीं-कहीं शब्दतः कहा भी गया है कि अमुक शब्द का अमुक लिंग है। कुछ कोशों में तो इन दोनों शैलियों का व्यवहार किया गया है (अमरकोश आदि), पर कुछ ऐसे भी कोश हैं, जिनमें एक ही पद्धति का प्रयोग हुआ है। हलायुध के 'अभिधान-रत्नमाला' कोश में शब्द के रूपभेद के द्वारा ही लिंगभेद का निर्देश किया गया है। इस प्रसंग में यह भी जानना चाहिए कि पुंलिंग के लिये कभी-कभी 'नृ' शब्द तथा नपुंसक के लिये 'पंडक' शब्द भी व्यवहृत हुआ है (रत्नकोश), जिसका एकमात्र कारण छंद को बैठाना ही है। कहीं-कहीं अंत्य अक्षरों के अनुसार शब्दों का संकलन करके भी लिंग-निर्देश किया गया है।[१]

लिंगानुसारी कोश के विषय में एक अन्य तथ्य भी आलोच्य है। संस्कृत भाषा में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनके अर्थ लिंगभेद से भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और इसी लिये अनेक संस्कृत कोशों में 'लिंगभेद-प्रदर्शनपूर्वक अर्थभेद-कथन' किया गया है। निम्नोक्त उदाहरणों से इस शैली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

१—यथा, करणिश्रेणिवेणय इति स्त्रीकाण्डे निगमः (अमरकोश की व्याख्यासुधा टीका, पृ० २३७)।

व्याडि ने 'कुश' शब्द का लिंगभेद से अर्थभेद दिखाया है—'कुशा वल्गा कुशी कालः कुशो दर्भः कुशं जलम्'। हैमकोश में 'गोत्र' शब्द में तथैव निर्देश मिलता है—"गोत्रं क्षेत्रेऽन्वये छत्रे संभाव्ये बोधवर्त्मनोः, वने नाम्नि च गोत्रोऽद्रौ गोत्रा भुवि गवां गणे"। 'मेदिनी' में 'सिंदूर' शब्द का लिंगभेद से अर्थभेद दिखाया गया है—"सिन्दूरस्तरुभेदे स्यात् सिन्दूरं रक्तवर्णके, सिन्दूरी रोचनी रक्तचेलिकाधातकीषु च"। इस प्रकार के अनेक वचन अन्यान्य कोशों में भी मिलते हैं।

४—अब 'नाममात्रपरायण' कोशों का कुछ विवरण दिया जाता है। सर्वानंद ने अमरकोश टीका के प्रारंभ में कहा है—'त्रिकाण्डोत्पलिन्यादीनि नाममात्रतंत्राणि', अर्थात् 'त्रिकांड', 'उत्पलिनी' आदि कोश नाममात्रपरायण थे। साथ ही यह भी जानना चाहिए कि ये लिंगमात्रपरायण नहीं थे, क्योंकि सर्वानंद ने लिंगपरायणता से पृथक् नामपरायणता का उल्लेख किया है। नाममात्रपरायण कोश की रचना-पद्धति कैसी थी, इसका ज्ञान ग्रंथाभाव के कारण दुष्कर है, पर 'उत्पलिनी' का एक वचन भानुजि ने उद्धृत किया है (पुष्पे वेशे गुणे चैव रजोऽयं रजसा सह—अमर-टीका, पृ० ५४), जिससे केवल इतना पता चलता है कि उसमें एक शब्द के विभिन्न अर्थों का उल्लेख उस शब्द के वैकल्पिक रूप के साथ किया गया था।

'नाममात्रपरायणता' के दो अवांतर विभाग हो सकते हैं—(क) पर्याय-संकलन, तथा (ख) अनेकार्थ-निर्देश। अधिकांश कोशों में पर्यायवाची शब्दों के संकलन के साथ-साथ एक 'अनेकार्थक' अंश भी पाया जाता है, जिसमें किसी एक क्रम के अनुसार अनेकार्थक शब्दों का संकलन रहता है। अमर आदि कोश इसके प्रमुख उदाहरण हैं।[६] साथ ही कुछ ऐसे भी कोश हैं जिनमें इन दोनों में से किसी एक अंश का ही संकलन है। विभिन्न व्याख्याकारों के वचनों से तथा अन्य प्रमाणों से पता चलता है कि कोशकार मुनि का कोश 'पर्याय-संकलनात्मक' था। अभिधान-चिंतामणि, तथा कल्पद्रु कोश भी इसी प्रकार के हैं। दूसरी ओर 'अनेकार्थसंग्रह' तथा 'विश्वप्रकाश' आदि कतिपय कोश पूर्णतः अनेकार्थक-शब्द-संकलनात्मक ही थे।

६—कात्य के नाममाला कोश में पर्यायवाची तथा अनेकार्थक दोनों प्रकार के शब्दों का संकलन था। इस कोश के विषय में सर्वानंद ने कहा है—'इति पादेन नामकथनेन नाममालायाम्' (पृ० २२)। यहाँ 'पादेन नामकथनेन' का तात्पर्य विचारणीय है।

शब्द-संकलन के उक्त दोनों प्रकारों (पर्याय-संकलन तथा अनेकार्थक-संकलन) में कई विचित्रताएँ दिखाई पड़ती हैं। यथा—

(क) 'हारावली' कोश के पर्याय-संकलनात्मक अंश में तीन विभाग हैं जिनमें प्रथम विभाग में पर्याय शब्दों का संकलन पूर्ण श्लोक में है, द्वितीय विभाग में केवल अर्ध श्लोक में तथा तृतीय विभाग में केवल एक चरण में। यह एक असाधारण कृति है, जिसका अनुकरण करना दुरूह है।

(ख) इस कोश के अनेकार्थक अंश में भी उसी प्रकार तीन विभाग हैं; प्रथम विभाग में अर्ध श्लोक में अर्थों का संकलन है, द्वितीय विभाग में एक चतुर्थांश में, और तृतीय विभाग में एक शब्द मात्र संकलित है। 'अनेकार्थ-समुच्चय' नामक कोश में भी इसी प्रकार की विचित्रता पाई जाती है।

(ग) इस विषय का एक विलक्षण कोश है आचार्य माठर विरचित 'श्लोकार्ध-पर्याय'। इस नाम के आधार पर सामान्यतः कहा जा सकता है कि इसमें श्लोक के अर्धांश में पर्यायवाची शब्दों का संकलन था। टीका-सर्वस्व में सर्वानंद ने कहा है—"इति द्विपर्यायिवर्गे महेन्द्रः पठति" (पृ० ८४)। क्या यहाँ द्विपर्याय वर्ग का अर्थ है वह वर्ग जिसमें केवल दो-दो पर्यायवाची शब्दों का संकलन था?

५—आजकल अधिकांश कोशों में शब्द-संकलन का क्रम शब्दों के आदि वर्ण के अनुसार होता है। पर संस्कृत के कुछ कोशों की यह महती विशिष्टता है कि उनकी रचना अंत्य वर्ण के अनुसार हुई है। यहाँ पहले आदि-वर्णानुसारी कोशों का विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

अकारादि क्रम से रचित कोशों में अजयपाल रचित 'नानार्थ-संग्रह' कोश महत्त्वपूर्ण है। इसमें शब्दों का क्रम उनके आदि-वर्णानुसार है, परंतु वर्णमाला के अनुसार वर्णानुक्रम केवल आदि अक्षर में ही दिया गया है, पदस्थ अन्य वर्णों में इस रीति का पालन नहीं किया गया, जैसा वर्तमानकालिक कोशों में किया जाता है। इसका फल यह हुआ कि अकारादि शब्दों में पहले 'अमृत' शब्द का पाठ है और उसके बाद 'अकूपार' शब्द का।

कुछ कोशों में पर्याय-संकलनात्मक अंश में जिस रीति से शब्द-संकलन किया गया है, अनेकार्थक-संकलनांश में उससे भिन्न रीति बरती गई है। उदाहरणार्थ, वैजयंती कोश में केवल अनेकार्थक-संकलनात्मक अंश में ही अकारादि क्रम का प्रयोग किया गया है, उसके अन्य अंश में नहीं। इसमें भी इस क्रम का

पालन (अजयकोश की तरह) शब्द के आदि वर्ण तक ही सीमित है। पर इसकी विशिष्टता यह है कि इसके तीन कांडों में यथाक्रम द्व्यक्षर, त्र्यक्षर तथा बह्वक्षर शब्दों का संकलन है।

कुछ कोशों के नाम से ही पता चलता है कि उनकी रचना आदि-वर्णानुसार हुई थी। 'अकारादि-शब्द-मंजरी' कोश इसका एक उदाहरण हो सकता है। कुछ ऐसे भी कोश हैं, जिनमें आदि वर्ण तथा अंत्य वर्ण दोनों के क्रम का ध्यान रखकर शब्दों का संकलन किया गया है, जैसे रभस कोश में (द्रष्ट० 'तालव्यादिमूर्धन्यान्तेषु रभसः'—अमर-व्याख्या-सुधा, पृ० ३४२)।

६—अब अंत्य-वर्णानुसारी कोशों की रचना-पद्धति पर विचार करना चाहिए। यह एक विचित्र बात है कि कोशों के अनेकार्थक-शब्द-संकलनांश में अधिकतर अंत्य-वर्णानुसारी पद्धति ही अपनाई गई है, जैसे अनेकार्थक-शब्दसंकलन के लिये यही पद्धति सहज एवं सर्वोत्कृष्ट हो। दुर्ग कोश के अनेकार्थक अंश में शब्द-क्रम अंत्य वर्ण के अनुसार है, अर्थात् 'काल' शब्द 'क' विभाग में न रहकर 'ल' विभाग में पठित है। रंति कोश और रुद्र कोश की भी शब्द-संकलन-पद्धति ऐसी ही है, परंतु रुद्र कोश में विशेषता यह है कि शब्दों के अंत्य वर्णानुसार संकलन के बाद प्रत्येक विभाग में उनका पाठ आदि वर्ण के क्रम से है, अर्थात् 'काल' और 'सलिल' यद्यपि 'ल' विभाग में पठित हैं, तथापि 'काल' शब्द के बाद ही 'सलिल' शब्द का पाठ है, क्योंकि 'स' वर्ण 'क' के बाद आता है।

इस शैली का विशिष्ट उदाहरण 'अनेकार्थसंग्रह' में दिखाई पड़ता है। इसमें अनेकार्थक शब्दों का पाठ छः कांडों में दिया गया है, और उनका वर्गीकरण अक्षरों के अनुसार है। इसमें भी रुद्र कोश की तरह पहले अंतिम व्यंजन वर्ण के अनुसार शब्दों का संकलन है, फिर उन संकलित शब्दों का क्रम आदि-वर्णानुसार रखा गया है।

'मंख' कोश में शब्द-संकलन 'विश्वप्रकाश' की तरह (अर्थात् अंतिम वर्ण के क्रमानुसार) है, पर शब्दों का संकलन इस प्रकार हो जाने के बाद अक्षरों की संख्या के अनुसार उनका पुनः सज्जीकरण किया गया है। यही शैली 'धरणि' कोश में भी अनुकृत हुई है। 'मेदिनी' का शब्दसंकलन भी विश्वप्रकाशानुसारी है, पर 'विश्वप्रकाश' से 'मेदिनी' की विशिष्टता यह है कि अंत्य-वर्णानुसारी शब्दों के संस्थापन का क्रम आदि वर्ण के अनुसार रखा गया है।

वर्णक्रमानुसारी कोशों में कुछ अन्य भी आलोचनीय विषय हैं। अंत्य वर्णानुसारी कोशों में 'क्षान्त' पदों का पृथक् वर्ग में संकलन है, 'षान्त' शब्दों के साथ नहीं (द्रष्टव्य विश्वकोश, मंखकोश, अजयकोश इत्यादि)। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'क्ष' स्वतंत्र वर्ण नहीं है, पर 'प्रयोगरत्नमाला' व्याकरण इसको एक स्वतंत्र वर्ण मानता है। इससे यह सूचित होता है कि कोई कोई विशिष्ट कोशकार किसी विशिष्ट व्याकरण के नियमों के अनुसार शब्दों का संकलन करते थे।

कोशों में आदि वर्ण और अंत्य वर्ण दोनों के अनुसार शब्द-संकलन होने से शब्द के स्वरूप-ज्ञान में विपर्यय होने की बहुत कम संभावना रहती है। शब्दों के ब-व आदि वर्णों में यदि उच्चारण-विपर्यास हो जाय, तो परवर्ती काल में यह पता लगाना दुष्कर हो जाता है कि शब्द में 'ब' है या 'व', पर आद्यंत - वर्ण-नियमन (जैसा मेदिनी, विश्व इत्यादि में है) के कारण ऐसा संदेह स्वतः निरसित हो जाता है। अमरकोश के 'उदुम्बर' शब्द (वनौषधि वर्ग) की व्याख्या में भानुजि दीक्षित ने इस युक्ति का प्रयोग किया है; यथा, 'मुकुटस्तु मेदिनीसंमत्या टवर्गतृतीयमध्यमप्याह, तन्न, तत्र मध्यमवर्णनियमाभावात्, आद्यन्तयोरेव नियमात्' (पृ० १३५)। आज तक ज्ञात संस्कृत कोशों में मध्यम-वर्ण-ज्ञापनात्मक रीति का व्यवहार नहीं दिखाई पड़ता।

अंत्य-वर्णानुसारी कोशों का शब्द-क्रम कभी तो एक वर्ण के अनुसार होता है और कभी एक निर्दिष्ट वर्ग या उच्चारण-स्थान के अनुसार, जैसा कि 'तालव्यान्ते रुद्रः', 'शान्ते विश्वः', 'मूर्धन्यान्त', 'टवर्गद्वितीयान्त' आदि शब्दों के व्यवहार से ज्ञात होता है।

इन तात्त्विक प्रकारों के अतिरिक्त शब्द-संकलन में कुछ व्यावहारिक चमत्कारिता भी दिखाई पड़ती है। आगे संक्षेप में उसका भी पृथक्-पृथक् पद्धतियों के रूप में विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

७—सप्रमाण शब्द-संकलन—यद्यपि कोशों का कार्य किसी एक निश्चित तत्त्व के अनुसार शब्दों का संकलन ही है, तथापि कहीं-कहीं प्रमाण का भी उपन्यास किया गया है। कोश में इस शैली की महत्ता क्या है, यह विचारणीय है। हो सकता है कि शब्द की जिस विशिष्टता का निदर्शन कोशकार करना चाहता था वह अति प्रसिद्ध न रही हो, या उसमें कुछ विप्रतिपत्ति रही हो, उसी के निराकरण के लिये कोशकार ने सप्रमाण विशिष्टता का उल्लेख करना उचित समझा। 'शाश्वत' कोश में

इस शैली का उदाहरण है—'अर्धर्चादिगणे पाठात् पुं-नपुंसकयोर्मधु'। यहाँ जिस अर्धर्चादि का प्रमाण दिया गया है, उसका स्थान पाणिनि का सूत्र है (द्रष्ट० अष्टा० २।४।३१)। इस पद्धति का अत्यधिक व्यवहार 'नानार्थार्णव संक्षेप' कोश में मिलता है, जिसमें प्रमाणभूत पुरुषों के नाम तथा वचन प्रायः कोश में ही उल्लिखित हैं। पाणिनि-सूत्रों की तरह उणादि सूत्रों का भी सप्रमाण उद्धरण कोशों में मिलता है, जैसा कि पुरुषोत्तम कृत कोश में है—'भल्लूको भल्लुको भल्ल इत्युलूकादयश्च सः'। यहाँ उल्लिखित उलूकादि गण उणादि में है (४।४८)।

८—जो शब्द सर्वत्र साधु रूप से मान्य नहीं थे, केवल किसी एक संप्रदाय द्वारा साधु माने जाते थे, उनकी इस एकदेशीयता का भी उल्लेख किसी-किसी कोशकार ने किया है, जो उचित ही है। व्याकरण शास्त्र में भी 'एके' आदि शब्दों से तथा कहीं-कहीं आचार्य-विशेष का नाम लेकर शब्दसाधुत्व का उल्लेख किया गया है। पर इस प्रकार मतभेदोल्लेखपूर्वक शब्द-संकलन विरल ही दिखाई पड़ता है। इसका एक उदाहरण है—'मासशब्दः केवलोऽपीह संमतो बहुदर्शिनाम्' (उत्पलिनी कोश), अर्थात् 'मास' शब्द के स्थान पर किसी-किसी बहुदर्शी के मतानुसार 'मास्' शब्द भी साधु है। इस प्रकार दूसरा वचन है—'अथ वृष्टिवर्षमस्त्री केचिदिच्छन्ति वर्षणम्' (शब्दार्णव), अर्थात् वृष्टि तथा वर्ष शब्द सार्वजनीन हैं, पर वर्षण शब्द की साधुता किसी आचार्य-विशेष के अनुसार है।

इस प्रकार विशिष्ट संप्रदाय के उल्लेख से यह ज्ञात हो जाता है कि उस कोशकार के प्रमाणभूत शब्दवित् आचार्य कौन थे, तथा यह भी पता चलता है कि जिस शब्द के साधुत्व के विषय में कुछ विवाद है वह कदापि बहुत प्राचीन काल से व्यवहृत होता नहीं आ रहा है।

९—वैकल्पिक-रूप-निर्देश—कभी-कभी एक शब्द के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं और यदि विशेष निर्देश न हो तो सभी की साधुता समान रूप से अभ्युपगत होती है। अनेक शब्दों के इस प्रकार वैकल्पिक रूप हैं। अतः कोशकारों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे इन सब वैकल्पिक रूपों का भी संकलन करें। पर संस्कृत के अधिकांश कोशों में इनके संकलन का प्रयास नहीं किया गया है। इसके कई कारण हो सकते हैं। हो सकता है, ग्रंथ में संक्षिप्तता लाना कोशकार का उद्देश्य रहा हो, या उसकी दृष्टि में वे शब्द साधु न रहे हों, या एकदेशीय साधु होने के कारण उसने इन वैकल्पिक रूपों का संकलन उचित न समझा हो, अथवा यह भी संभव

है कि इन वैकल्पिक रूपों की अप्रसिद्धि के कारण उसे ये रूप ज्ञात न रहे हों। हम स्वतंत्र लेख में इसका विवेचन करेंगे। इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिए कि तारपाल के कोश में वैकल्पिक-शब्द-निर्देश अत्यधिक थे, जैसा कि सर्वानंद द्वारा उद्धृत वचनों से सामान्यतः अनुमान होता है। वाचस्पत्य कोश में भी यह शैली बहुल मात्रा में दिखाई पड़ती है। यहाँ वैकल्पिक-शब्द-निर्देश के कुछ उदाहरण प्रसंगतः दिए जाते हैं—

(क) द्विविध-वैकल्पिक-रूप-निर्देश—'अथ नारायणो विष्णुरूर्ध्वकर्मा नरायणः' (शब्दार्णव); यहाँ नारायण शब्द के साथ अप्रसिद्ध 'नरायण' शब्द का भी संकलन है। इस कोश में पृथिवी का वैकल्पिक रूप 'पृथवी' भी दिया है (यद्यपि आजकल संस्कृत के विद्वान् 'नरायण' और 'पृथवी' को अशुद्ध ही समझते हैं)। इस प्रकार के वैकल्पिक रूपों के उदाहरण प्रचुर हैं; यथा जटा, 'जटि' (द्विरूप कोश); हर, 'हीर' ('संसारावर्त'); ऋषि, 'रिषि' इत्यादि। इन वैकल्पिक रूपों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन अपेक्षित है।[७]

(ख) त्रिविध-वैकल्पिक-रूप-निर्देश—संस्कृत में ऐसे शब्द बहुत कम ही हैं जिनके तीन-तीन रूप होते हैं। वाचस्पति कोश में इसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'सलिल' शब्द। वहाँ इसके तीन रूप पठित हैं—सरिल, सलिर, सलिल। 'हलाहल' शब्द इसका दूसरा उदाहरण है। द्विरूप कोश में कहा गया है—'हालाहलं हालहलम् वदन्त्यपि हलाहलम्'। द्विरूप कोश में 'एडूक' शब्द के भी तीन रूप हैं—'भवेदेडोक-मेडूकमेडुकं च'। चार रूप वाले शब्द (तद्धित-प्रत्ययांत शब्दों को छोड़ कर), शायद संस्कृत में नहीं हैं[८] अतः उनके संकलन का प्रसंग ही नहीं उठता।

१०—विवरणात्मक शब्द-संकलन—यद्यपि कोश साधारणतया शब्द-संग्रह के साथ-साथ अर्थ-निर्देश करके ही निवृत्त हो जाता है, पर कुछ ऐसे भी कोश हैं जिनमें

७—द्विविध वैकल्पिक रूपों में उन शब्दों की भी गणना होनी चाहिए जिनमें केवल ह्रस्व-दीर्घ-भेद होता है। संस्कृत में ऐसे शब्द बहुत हैं, और उत्कृष्ट कोशों में ऐसे वैकल्पिक रूपों का भी संकलन किया गया है, यथा—'वीचिः पङ्क्तिः महिः केलिः इत्याद्या ह्रस्वदीर्घयोः' (वाचस्पति कोश)।

८—संस्कृत कोशों में भृकुटि शब्द के तीन और रूपों का संकलन है—भ्रकुटि, भ्रुकुटि, भ्रूकटि।

अर्थ के सामान्य निर्देश के साथ-साथ वाच्य अर्थ का कुछ विवरण, परिचय तथा लक्षण भी दिया गया है, यद्यपि बहुत कम स्थलों पर ही ऐसा किया गया है। यह कोशकार की एक विशिष्ट श्लाघनीय पद्धति है, क्योंकि इस प्रकार सविशेष अर्थ-निर्देश के बिना उन शब्दों के यथार्थ प्रयोग में कुछ-न-कुछ भ्रम होना संभव ही है। उद्धरणों से पता चलता है कि काव्य के कोश में विवरणात्मक शब्द-संकलन अधिक था। अभिधान-चिंतामणि टीका में कहा गया है—'प्रपञ्चश्च वाचस्पति प्रभृतेरिह लक्ष्यताम्', जिससे अनुमित होता है कि कुछ कोशकारों ने स्वेच्छा से सविशेष अर्थ-निर्देश किया था, यद्यपि सामान्य निर्देश करने से भी कोशकार दूषणीय नहीं होता।[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि व्याडि के कोश में यह शैली पराकाष्ठा को प्राप्त हुई थी। इस कोश में न केवल विशेष अर्थ ही है, अपितु कहीं-कहीं उपपत्ति भी है (जैसे विभिन्न ऋतुओं में सूर्य-किरण में वृद्धि कैसे होती है, इत्यादि)।

११—व्युत्पत्ति-सहित निर्देश—कहीं कहीं शब्द-संकलन के साथ उसकी व्युत्पत्ति भी दी गई है, पर यह पद्धति कोशों में नगण्य है। अभिधान-चिंतामणि टीका में कहा गया है—'व्युत्पत्तिः धनपालतः', अर्थात् धनपाल कोश में व्युत्पत्ति का निर्देश था। व्युत्पत्ति सहित अर्थ-निर्देश का एक उदाहरण है—'अर्थान् निघण्टयस्मान् निघण्टुः परिकीर्तितः' (व्याडि)।

१२—वर्णभेद निर्देशात्मक कोश—संस्कृत में यह एक विशिष्ट प्रकार का कोश है। कुछ वर्ण ऐसे हैं, जिनके उच्चारण में सदृशता अथवा सूक्ष्म भेद होने के कारण एक के स्थान पर अन्य का उच्चारण प्रसक्त हो जाता है। इस दोष के निराकरण के लिये, तथा कहाँ वर्णभेद साधु है या वर्णभेद होने से अर्थभेद

१—संस्कृत कोशों में कहीं तो सामान्य अर्थ का और कहीं विशेष अर्थ का उल्लेख किया गया है। यथा—(क) नील, श्यामल, मेचक आदि शब्दों के पाठ अमरकोश तथा हैम कोश में पर्यायवाची के रूप में हैं, पर शब्दार्णव कोश में इनका सूक्ष्म भेद दिखाया गया है। (ख) अमर तथा अन्य कोशों मे मेघ, जीमूत आदि शब्दों को पर्याय माना गया है, पर शब्दार्णव में इन सबका सूक्ष्म भेद निदर्शित है। वस्तुतः संस्कृत में पूर्णतः पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा कहने में संकोच होता है।

होता है यह दिखाने के लिये कुछ कोशों में वर्णभेदाश्रित शब्द-संकलन किया गया है।[१०]

जिन वर्णों के उच्चारण में अन्योन्य-विनिमय हो जाता है या जिनका विनिमय होने पर भी बहुत स्थलों पर अर्थैक्य रहता है उनमें ज-य, ण-न, ब-व तथा स-ष-श मुख्य हैं, और इनके भेदों का आश्रय कर अनेक कोशों की रचना हुई है; जैसे 'श-भेद', ष-भेद', 'ज-भेद' आदि। विभिन्न टीकाग्रंथों में इन कोशो के वचनों के उद्धरण से इन कोशो की रचना-पद्धति का यथावत ज्ञान हो जाता है।[११] टीकासर्वस्व में 'द्वितालव्य-श भेद' का भी उल्लेख है (पृ० २८६), जिससे पता चलता है कि वर्णभेदाश्रित कोशों के कई प्रकार थे।

जैसे वर्णभेद होते हुए भी प्रायः अर्थ में समानता रहती है, वैसे ही कभी-कभी वर्णभेद होने पर अर्थ में भिन्नता भी आ जाती है। भाषा-ज्ञान के लिये यह एक अवश्यज्ञेय तथ्य है, अतः कोशकारों ने इस तथ्य का भी कहीं-कहीं यत्नपूर्वक संकलन किया है। इसका एक उदाहरण है—'गृहमात्रे गणिकायाः सद्मनि वेशो भवेन् तु तालव्यः, तालव्यो मूर्धन्योऽलंकरणे कथित आचार्यैः' (ऊष्मविवेक कोश)।

१०—अमरकोश की विविध टीकाओं में 'श-भेद', 'ऊष्मविवेक', 'वर्णदेशना' आदि कोशों का उल्लेख है, जिनमें उच्चारण में भ्रमयोग्य वर्णों से घटित शब्दों का स्पष्ट निरूपण है। 'वर्णदेशना' कोश के आरंभ में कहा गया है कि श्रुति-साधारणता के कारण 'ख' और 'क्ष' में, तथा 'ह' और 'घ' में भ्रम होता है और लिपि-साधारणता के कारण 'ढ' तथा 'ड' मे भ्रांति होती है, इस दोष के निराकरण के लिये इस कोश की रचना की जा रही है।

११—इन कोशों की रचना-पद्धति के विषय में यह ज्ञातव्य है कि 'श-भेद' कोश केवल यही नहीं बतलाता कि कहाँ 'श' वर्ण होगा, अपितु वह यह भी बतलाता है कि कहाँ मूर्धन्य 'ष' होगा (रामाश्रमी टीका, पृ० ३३२) तथा वह दंत्य सवर्ण का भी निरूपण करता है—'तालव्या अपि दन्त्याश्च शम्बशूकरपांसवः' (श-भेद कोश)। इसी प्रकार 'ऊष्मविवेक कोश' केवल यह नहीं बतलाता कि किन शब्दों में ऊष्म वर्ण होता है, अपितु वह यह भी बतलाता है कि कहाँ दंत्य स होता है, कहाँ दोनों स दंत्य होते हैं (रामा० टीका, पृ० ८६), कहाँ स और ष दोनों होते हैं (वही, पृ० १०२) और कहाँ श और ष दोनों होते हैं।

जहाँ वर्णभेद के साथ अर्थभेद होता है, वहाँ वह एक ही शब्द का अर्थभेद न माना जाकर पृथक् शब्द ही माना जाता है।[१२]

(१३) अर्थ के प्रसंग में अर्थ-निर्देश संबंधी कुछ विशिष्ट प्रकार की पद्धतियाँ उल्लेखनीय हैं। पुरुषोत्तम देव का एक कोश है, जिसका नाम है 'एकाक्षर कोश'। इसमें एक-एक अक्षर का अर्थ दिखाया गया है। इस प्रकार के अन्य कोशों के नाम भी हैं, जैसे 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर मातृका कोश' इत्यादि। इन कोशों की अपनी विशिष्टता क्या थी, इसका निर्णय करना दुरूह है, पर इतना तो निश्चित है कि इनमें अक्षरों का अर्थ-निर्देश अवश्य था।

अर्थ-निर्देश में आचार्य सौभरि के दो कोश महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रंथ यद्यपि अनुपलब्ध हैं, तथापि उनके नाम से उनकी रचना-पद्धति का कथंचित् ज्ञान हो जाता है। ग्रंथ के नाम हैं—'एकार्थ नाममाला' तथा 'द्व्यर्थ नाममाला'। ज्ञात होता है इनमें यथाक्रम एक अर्थ वाले तथा दो अर्थ वाले शब्दों का संग्रह था, यद्यपि इनमें शब्द-स्थापना का क्या क्रम था, यह अविज्ञात है। इन कोशों की उपयोगिता श्लेषप्रिय कवियों के लिये है। इस शैली का असाधारण विकास कवि राक्षस कृत 'षडर्थ-निर्णय कोश' में हुआ जान पड़ता है। संभवतः इसमें प्रत्येक शब्द के छः अर्थ दिखाए गए थे। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मानना होगा कि इस शैली से और भी अनेक कोशों की रचना हुई थी, जिनके आधार पर श्लेषात्मक काव्यों का प्रणयन तथा अर्थबोध सहज हो गया था। संस्कृत साहित्य में 'षण्मुखी' श्लोक तो मिलते ही हैं, जिनके छः अर्थ होते हैं. 'षण्मुख वृत्ति निघंटु' कोश का भी उल्लेख है। परंतु इसकी रचना-पद्धति अज्ञात है।

१४—कहीं-कहीं कोशों में व्याकरण-पद्धति के अनुसार भी शब्दों का संकलन किया गया है। शब्दार्णव कोश में 'कृत् अध्याय', 'तद्धित अध्याय' जैसे विभाग हैं। भवदेव नाम के किसी विद्वान् के 'तद्धित कोश' का उल्लेख मिलता है। इस कोश का विशेष विवरण अज्ञात है।

१५—अब कोशों के अध्याय-पाद-विभाजन के विषय में भी कुछ विचार करना चाहिए। प्रायः कोशकार किसी एक तत्त्व के अनुसार एक-एक वर्ग, कांड या अध्याय में एक के बाद अन्य अर्थ का स्थापन करता है। अमरकोश, हैम कोश आदि

१२—यह सिद्धांत व्याकरण-शास्त्रानुमत है; कोशकारों ने अर्थ-संबंध-ज्ञापन की सुविधा के लिये वर्णभेद प्रयुक्त अर्थभेद का निदर्शन दिया है।

इसके उदाहरण हैं। इनमें अर्थों का सांकर्य प्रायः कहीं भी नहीं है, यद्यपि कहीं-कहीं ऐसा कहा जा सकता है कि अमुक वर्ग में जो अमुक अर्थ का संकलन किया गया है, वह अन्य वर्ग में भी हो सकता था। इस प्रकार का तर्क अप्रतिष्ठ ही होता है, अतः इसकी आलोचना व्यर्थ है। हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि कोशों में अर्थों का क्रम एक निश्चित नियम के अनुसार है, जो उनके सुष्ठु अध्ययन से विज्ञात हो सकता है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि कोश ग्रंथ के अवांतर विच्छेद के लिये 'सर्ग' (विश्व निघंटु), 'परिच्छेद' (पर्याय-रत्न-माला), 'गुच्छक' (पर्याय-पद-मंजरी), 'तरंग' (पर्याय-शब्द-रत्नाकर) तथा 'कांड' (अनेक कोशों में) आदि शब्दों का व्यवहार किया गया है। कोश के नाम के साथ उसके विभाग-नाम की चमत्कारिता अवलोकनीय है। इस विषय में सबसे आश्चर्यकर तथ्य यह है कि 'मंख' कोश में अध्याय-पाद आदि नहीं हैं, पूर्ण ग्रंथ एक प्रयत्न से लिखित है।

१६ – अब कोश की भाषा के विषय में कुछ वक्तव्य है। यास्क के निघंटु में शब्दों का पृथक्-पृथक् पाठ है, अतः उसकी भाषा को गद्य या पद्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता।[13] यास्क से प्राचीन कोशों की क्या स्थिति थी, यह अविदित है। यह भी दिखाई पड़ता है कि यास्क के बाद शब्दों का पृथक्-पृथक् पाठ करने की रीति प्रचलित नहीं रही और छंद में कोशों की रचना होने लगी। इसका अपवाद 'वर्णदेशना' कोश है, जो गद्य में रचित है। प्राचीन आचार्य इस ग्रंथ को कोश मानते थे, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यह कोश नहीं है।

छंद में कोश-रचना के विषय में दो ज्ञातव्य तथ्य हैं—छंदों की विविधता तथा छंद-रचना-जनित गुण-दोष। हम यथाक्रम इसकी आलोचना करेंगे—

छंदों की विविधता—कोशों में मुख्यतः 'अनुष्टुप' छंद का ही व्यवहार किया

१३—यास्कीय निघंटु के शब्द-क्रम में दो विशेषताएँ हैं—संकलित शब्दों की गणना (जैसे—इत्येकविंशतिः गोनामानि, १।१), (२) अर्थक्रम की वैज्ञानिकता। निरुक्त-टीकाकार दुर्ग (२।१) तथा स्कंद (६।१८) ने इस गणना-पद्धति की व्यर्थता सोदाहरण दिखाई है। अर्थक्रम की वैज्ञानिकता को दुर्ग ने विशद रूप से प्रत्येक गण के व्याख्यारंभ में दिखाया है। अन्य किसी कोश में इतनी सुदृढ़ क्रम-संगति लक्षित नहीं होती।

गया है। संस्कृत साहित्य के सभी विषयों में इस छंद का प्रभाव अनन्य-साधारण है। पुराण आदि के प्रायः सभी श्लोक इसी छंद में रचित हैं, और इस छंद की अति व्यापकता के कारण ही कभी-कभी इसको केवल 'पद्य' नाम से अभिहित किया जाता है (द्रष्ट० श्रुतबोध, श्लोक ११)। अनुष्टुप् के अतिरिक्त आर्या छंद (नाममाला कोश तथा वोपालित कोश) का भी बहुत व्यवहार है। अभिधान-चिंतामणि, अभिधान-रत्नमाला तथा त्रिकांड कोश में एकाधिक छंदों का व्यवहार है, जिससे कोशकारों की उत्कृष्ट रुचि का परिचय मिलता है।

छंद-रचना जनित गुण - अमरमाला कोश में कहा गया है -'ईलिः करवाली स्थान् वेमेयो धान्यपरिवर्तः'। किसी को संदेह हुआ कि यहाँ 'ईलि' के स्थान पर 'इलि' पाठ होगा; पर ऐसा होने से आर्या छंद में भंग होता है अतः मानना पड़ा कि मूल पाठ 'ईलि' ही था। इसी प्रकार का उदाहरण वोपालित के कोश से भी दिया जा सकता है। सर्वानंद ने कहा है -"नापिकषायस्तुवर इति ह्रस्वादिरपि वोपालितेन उक्तः, अन्यथा आर्याभङ्गः"। अमर-टीका में भानुजि दीक्षित ने कहा है कि 'कुणि' शब्द के समान 'कूणि' शब्द भी है और युक्ति दी है—'निसर्गतः कूणिपङ्गुपोगंडाः इति नाममालायाम् आर्यापाठात् दीर्घोकारवान् अपि' (पृ० २१७)। इससे ज्ञात होता है कि छंद के कारण शब्द-स्वरूप-निर्धारण में सुगमता होती है। छंद-बल के कारण ही हम एक प्रचलित शब्द के स्थान पर अप्रचलित शब्द की साधुता को स्वीकार करने के लिये बाध्य होते हैं।

दोष—कहीं-कहीं छंद बैठाने के लिये एक वचन के स्थान पर बहुवचन तथा क्रम-विपर्यय करना पड़ा है, जो छंदमय कोश-रचना के दोष हैं। अमरकोश में 'तन्तु' शब्द का पाठ बहुवचन में दिया गया है (२।१०।२८), इसका यह अर्थ नहीं कि 'तन्तु' शब्द नित्य बहुवचन है, प्रत्युत केवल छंद मिलाने के लिये ही 'तन्तुः' के स्थान पर 'तन्तवः' पढ़ा गया है। अमरकोश में जिस पद के अंत में 'तु' हो वह पूर्वान्वयी नहीं होता, किंतु इसी कोश में कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ केवल छंद बैठाने के लिये अस्थान में 'तु' शब्द का पाठ किया गया है, और बाध्य होकर टीकाकारों को कहना पड़ा है कि यह क्रम-विपर्यय केवल छंद बैठाने के लिये है। अमर-टीका में भानुजि दीक्षित ने कहा है कि छंद बैठाने के लिये कोशकार 'तु' का प्रयोग न कर 'च' का प्रयोग करते, तो अधिक अच्छा होता (क्योंकि उसमें अर्थभ्रम होने की संभावना न रहती)।

१७—संस्कृत में कुछ ऐसे भी कोश हैं, जो प्राचीन कोशों के संक्षिप्त संस्करण हैं। 'संक्षेपीकरण' एक विशेष प्रकार की रचना-पद्धति है और यदि मूल कोश से संक्षेपीकृत कोश की तुलनामूलक आलोचना की जाय तो कोश के संक्षेपीकरण की प्रक्रिया का विशेष ज्ञान हो सकता है। अमरकोश के टीकाकार रायमुकुट ने 'बृहत् अमरकोश' का, सर्वानंद ने (पृ० २२) 'वृद्धामरकोश' का तथा भानुजि दीक्षित ने 'बृहद् हारावली कोश' का उल्लेख किया है।

हमारे पूर्वाचार्य ऐसे ग्रंथों को भी कोश रूप में प्रमाण मानते थे, जिनमें कोश का लक्षण साक्षात् नहीं घटता। यथा - 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा, साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते', यह वाक्य आधुनिक टीकाओं में कोश-वचन के रूप में उल्लिखित रहता है, पर अनुसंधान से पता चलता है कि यह कोश का नहीं प्रत्युत उणादि सूत्रों की पेरुसुरि-रचित टीका का वचन है (३।८३)।

यह प्रसिद्धि है कि अमरसिंह की पूर्ति पुरुषोत्तमदेव ने अपने कोश में की है। यदि दोनों कोशों की तुलना की जाय तो किस पद्धति से यह पूर्ति की गई, इसका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। कोशों का संक्षेपीकरण, कोशों के शब्दार्थ-संबंधी उप-बृंहण, तथा कोश-वचनों का परस्पर अनैक्य आदि ऐसे विषय हैं जिनके विवेचन से कोश-रचना के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। इनका संकलनात्मक विवरण अन्य लेखों में प्रस्तुत करने का यत्न किया जायगा।

१८—नाम संबंधी कोशों के बाद उपसर्ग, निपात तथा आख्यात संबंधी कोशों की रचना-पद्धति आलोच्य है। प्रायः सभी कोशों में अव्यय (निपात जिसका एक अंश है) का संकलन अंत में किया गया है (द्रष्ट० विश्वकोश तथा शब्दरत्नाकर कोश)। व्याडि के कोश में भी यही पद्धति थी, जैसा भानुजि के उद्धरण से स्पष्ट है (अमर-टीका, पृ० ४४७)। इस रीति का अपवाद अजयपाल का कोश है, जिसमें प्रत्येक अध्याय के अंत में आदि वर्ण के क्रम से अव्ययों का संकलन किया गया है। महादेव विरचित अव्यय-कोश प्राप्त है तथा जयभट्टारक के 'अव्ययार्णव' का उल्लेख मिलता है, पर इन सबकी रचना-पद्धति साधारण है। संभव है, 'अव्यय-संग्रह-निघंटु कोश' (जो अप्राप्त है) में अव्यय संबंधी पूर्ण विवरण रहा हो।

आख्यात (= धातु) संबंधी कोश को एक पृथक् विद्या-प्रस्थान न मानकर उसे शब्दशास्त्र का ही एक अंग माना जाता है। अतः हम प्रत्येक व्याकरण के

'धातुपाठ' को आख्यात-कोश कह सकते हैं। इन धातुपाठों में धातु-संकलन के कुछ अवांतर भेद हैं। धातुओं का दस गणों में विभाग प्रायः सभी धातुपाठों में दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं धातुओं के संकलन में मातृका वर्णक्रम (अ, आ···, क, ख···) का व्यवहार किया गया है (माधवीय धातुवृत्ति, पृ० ५५)। कहीं-कहीं उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरानुसार विभाग कर तद्युक्त धातुओं का क्रम से संकलन किया गया है। आचार्य बोपदेव का एक धातुकोश है-'कविकल्पद्रुम', इसमें वर्णक्रमानुसार धातुओं का संकलन है।

धातु संबंधी अनेक कोशों के उल्लेख विभिन्न ग्रंथों में मिलते हैं, जैसे 'तिङन्तार्णव तरणि' इत्यादि। इस कोश में प्रत्येक गण की विशिष्ट धातुओं के रूप संकलित हैं। 'धातु-पर्याय-मंजूषा' नामक एक कोश का उल्लेख मिलता है। संभवतः इसमें एक अर्थ में प्रयुक्त होनेवाली सभी धातुओं का एकत्र संकलन था। 'धात्वर्थ-मंजूषा' नामक कोश का भी उल्लेख मिलता है। सायणाचार्य ने 'क्रियानिघंटु' का उल्लेख किया है (धातुवृत्ति, पृ० १७०)। धातुपाठ में 'दंडक धातुपाठ' का उल्लेख है, जिसका अर्थ है—एकार्थक अनेक धातुओं का एक वाक्य में संकलन। परंतु ग्रंथाभाव के कारण इन सब कोशों की विशिष्ट रचना-पद्धति अज्ञात है।

संस्कृत साहित्य में कुछ कोश विषयानुसार भी रचित हैं। आयुर्वेदशास्त्र में इस प्रकार के कई कोश हैं। 'षड्दर्शन निघंटु'[१४] का भी उल्लेख मिलता है, पर उसकी रचना-पद्धति अज्ञात है।

१४—'निघण्टु' शब्द के विषय में एक भ्रम प्रचलित है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं कि निघंटु शब्द वैदिक कोश का वाचक है, परंतु यह ठीक नहीं है। वेदार्थ-दीपिका का पाठ है—'यातयामो जीर्णे भुक्तोच्छिष्टेऽपि च इति निघण्टौ' (पृ० ५६), इस पर ग्रंथ-संपादक मैकडानल ने लिखा है—'Not in Yaska's Nighantu'। परंतु यह वचन वैजयंती कोश में मिलता है (पृ० २७५)। वस्तुतः 'निघण्टु' कोश का पर्याय है।

सिरि थूलिभद्द फागु—पर्यालोचन

[श्री अक्षयचंद्र शर्मा]

१

फागु काव्य का सामान्य रूप

संस्कृत साहित्य में फागु काव्यों की परंपरा नहीं मिलती। अपभ्रंश साहित्य के रासक-युग के मध्य में हमें सबसे पहला फागु काव्य मिलता है। अभी तक प्राप्त होनेवाले फागु काव्यों में सबसे प्राचीन[1] 'सिरि थूलिभद्द फागु' है, जिसका रचना-काल चौदहवीं शती का उत्तरार्ध है। इसके बाद सतरहवीं शती तक सैकड़ों फागु काव्य अनवच्छिन्न रूप से प्राप्त होते हैं। इन फागु काव्यों का विषय एक ही नहीं रहा और इनकी अभिव्यक्ति में भी क्रमशः परिवर्तन होता गया।

फागु काव्य वसंत का उल्लसित गान है—वसंतोत्सव और अनंगपूजा का पर्वगीत है। वसंतागमन के साथ ही प्रकृति-बाला के शिशिर-शीर्ण कलेवर में नूतन तारुण्य की रक्ताभा झाँकने लगती है और जनजीवन नई नई भाववीचियों से लहरा उठता है। यही 'मदन-महोत्सव' प्रारंभ में फागु काव्यों का विषय रहा है।

यद्यपि पहला फागु काव्य हमें चौदहवीं शती का ही प्राप्त है, पर यह निश्चित है कि उसकी परंपरा पुरानी है, चाहे वह मुख-परंपरा ही क्यों न रही हो। संस्कृत के ऋतु-काव्यों में भी फागु का प्रारंभिक रूप देखा जा सकता है। फागु की स्पष्ट झाँकी हमें सबसे पहले हर्ष-प्रणीत 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अंक में मिलती है। कवि ने मदनोद्यान में मदन-पूजा का समारोहपूर्ण समारंभ दिखाया है। मदनिका तो उन्माद

१—अभी तक फागु काव्यों में 'सिरि थूलिभद्द फागु' ही प्राचीन माना जाता रहा है, किंतु श्री अगरचंद नाहटा से मुझे विदित हुआ है कि जैसलमेर के प्राचीन जैन-भांडार की एक प्रति में प्रस्तुत काव्य से लगभग पचास वर्ष पूर्व का 'जिनचंद्र सूरि फाग' प्राप्त हुआ है। उस प्रति का मध्य पत्र प्राप्त न होने से गाथा ६ से २० तक का अंश त्रुटित है। उसकी प्रधान विशेषता उसमें दिया गया वसंत-वर्णन है।

के कारण समयोचित नृत्य भी भूल गई। विदूषक ने उसे 'मअण वस विसंठुलं वसंताभिणअं णच्चंतीं'[२] (कामवश बेठिकाने वसंताभिनय नाचती हुई) देखकर ठीक ही वैसा राजा से निवेदन किया था।

कंदर्प-पूजा के अवसर पर चेटियाँ नृत्य करती हुई समवेत स्वर से द्विपदी खंड[3] गाती थीं—

कुसुमाउह पिअदूअओ मउलीकिद बहुचूअओ।
सिढिलिय माणग्गहणओ वाअदि दाहिण पवणओ ॥
विअसिअ बउलासोअओ कंखिअ पिअअण मेलओ।
पडिवालणा समत्थओ तम्मइ जुवई सत्थओ ॥
इह पढमं मधुमासो जणस्स हिअआइं कुणइ मिउलाइं।
पच्छा विद्धइ कामो लद्धप्पसरेहिं कुसुमबाणेहिं ॥[४]

(रत्नावली १।१३-१५)

रत्नावली नाटिका का यह गीत कंदर्प-पूजा का गीत है—क्रीडा एवं नृत्य निरत उन्मत्त कामिनियों का हर्षोल्लास है। 'फागु' के इसी स्वरूप की ओर 'सिरि थूलिभद्द फागु' के अंत में जैनाचार्य जिनपद्म सूरि ने इंगित किया है—

खरतरगच्छि जिणपदम सूरि किय फागु रमेवउ।
खेला नाचई चैत्र मासि रंगिहि गावेवउ ॥

उक्त दो पंक्तियाँ फागु काव्य की विशेषताएँ हमारे सामने रखती हैं। इनके आधार पर हम फागु काव्य का इस प्रकार स्वरूप-निर्धारण कर सकते हैं—

२—तुलनीय—'माणमडप्फर माणिणिअ तिमतिम नाचंते' थूलि० फागु)।

३—शुद्धा खंडा च मात्रा च संपूर्णेति चतुर्विधा।
द्विपदीकरणाख्येन तालेन परिगीयते ॥ (भरत मुनि)

४—अनुवाद—

कुसुमायुध का दूत पियारा, आमों को बौराता,
मंद मंद आया मलयानिल मानिनि-मान मिटाता।
मंजुल बकुल अशोक विटप को विकसित करनेवाली,
हो अधीर प्रिय बाट जोहतीं कामिनियाँ मतवाली।
पहले यह मधुमास जनहृदय को है मृदुल बनाता,
कुसुम बान फिर तान काम है उसे बेध सुख पाता।

(१) रमेवउ—फागु रमण से अर्थात् खेलने से संबंध रखता है। भरत मुनि ने भी नाट्यशास्त्र के प्रारंभ में नाटक को 'क्रीड़नीयक' कहा है।[५]

(२) खेला नाचइं—फागु में खेलने और नाचने की प्रधानता रहती है। 'रत्नावली' नाटिका में भी विदूषक ने नाचकर और गाकर मदनोत्सव मनाने की बात कही थी।[६] चेटियों के पास जाकर विदूषक भागकर आता है और राजा से कहता है—

वअस्स णच्चिदोम्हि। णहि णहि। कीलिअ पलाइदोम्हि।

(मित्र, नाच आया। नहीं, नहीं। क्रीड़ा कर भाग आया।)

इसमें खेलने और नाचने का उल्लेख किया गया है।

(३) चैत्र मासि—फागु वसंत से संबंध रखता है। प्रारंभ में फागु काव्यों में वसंत-वर्णन प्रमुख रहता रहा होगा। बाद में विषय बदलते गए, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि फागु काव्य वसंत में गाने के लिये लिखे जाते थे।

(४) रंगिहि गावेवउ—फागु काव्य रंगपूर्वक (उमंग के साथ) गाया जानेवाला काव्य अर्थात् गेय काव्य, कहना चाहिए गीतिनाट्य है। 'रत्नावली' में भी द्विपदी खंड समवेत स्वर से, सनृत्य, सवाद्य और क्रीड़ापूर्वक धूमधाम से गाया जाता है। यह गति आजकल के चंग या डफ पर, 'घुम्मर घालते' हुए (चक्राकार घूमते हुए), गैरियों द्वारा गाए जानेवाले होली के धम्माल आदि गीतों से साम्य रखता है।

रासक एवं फागु काव्य

रासक एक रूपक विशेष है। यह गेय रूपक है। इसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं, विविध प्रकार के ताल-लयाश्रित नृत्त होते हैं और चौसठ तक तरुण-युग्म होते हैं। यह मसृण (कोमल) एवं उद्धत होता है।[७] आगे चलकर रासकों में एक ओर औद्धत्य का प्राधान्य होता गया और वे रणप्रधान रासौ हो गए, दूसरी ओर मसृण रासक 'रास' रूप में चलते रहे।

५—'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्'—नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय।

६—भो वअस्स अहंपि एताणं मज्झे गदुअ णच्चन्तो गाअन्तो मअण महूसवं माणइस्सम्।

७—अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम्।
आचतुःषष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥

फागु काव्य भी रासकों के ही सदृश नृत्य-गीत-प्रधान होते हैं, परंतु वे उद्धत न होकर केवल मसृण होते हैं। यह मसृणता फागु काव्यों में बराबर बनी रही, साथ ही वे शृंगारप्रधान वासंती वातावरण को किसी न किसी प्रकार लिए रहे।

फागु की परिभाषाएँ

फागु काव्य की परिभाषा करने में विद्वानों ने बहुत ऊहापोह किया है। फिर भी ये परिभाषाएँ एकांगी ही बन पाई हैं, क्योंकि जब तक संपूर्ण फागु काव्यों का अध्ययन न कर लिया जाय, तब तक फागु के आत्मा को स्पर्श करनेवाली व्यापक परिभाषा नहीं बन सकती, जैसा कि निम्नलिखित परिभाषाओं से स्पष्ट है—

१—(क) फागु शब्द संस्कृत फाल्गुन > अपभ्रंश फग्गु > फागु, इस प्रकार बना है। यह फागु प्रधानतः वसंत ऋतु के आनंद—उल्लास से संबंध रखता है, इसलिये फागु कहलाता है।[८]

(ख) फग्गू महुच्छणे।[९] फागु वसंतोत्सव है।

यह फागु काव्यों की सामान्य परिभाषा हो सकती है। किंतु सर्वप्रथम प्राप्त फागु काव्य 'थूलिभद्द फागु' में वसंत का नहीं, चौमासे का वर्णन है और 'नेमिनाथ फागु' में भी वसंत-वर्णन नहीं। ऐसी स्थिति में फागु काव्य की इस परिभाषा में अव्याप्ति दोष आ जाता है।

२—(क) विषय शृंगारिक होने के कारण इसको फागु काव्य कहा गया है।[१०]

(ख) 'वसंत होली नां शृंगारी गीतो के बोलता अपशब्द'।[११]

(ग) फागु-काव्यों में मूलतः वसंत ऋतु एवं शृंगार का वर्णन रहता है।[१२]

इन आधारों पर तो कहा जा सकता है जो रचना शृंगारात्मक हो वह फागु काव्य है, परंतु यह परिभाषा भी फागु के प्रकृत रूप को हमारे सामने नहीं रख

८—श्री कांतिलाल बी० व्यास, वसंत-विलास, प्राक्कथन, पृ० ३७-३८

९—हेमचंद्र, देशीनाममाला, ६।८२

१०—केशवराम काशीराम शास्त्री, आपणा कविओ, खंड १, पृष्ठ २३३

११—सार्थ गुजराती जोडणी कोश, पृ० ७८४

१२—केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, हाजी महम्मद स्मारक ग्रंथ।

पाती। जैनाचार्यों के द्वारा पुष्कल परिमाण में जिन फागु काव्यों की रचना हुई है वे प्रायः शृंगार-रहित, ऋतु-सुषमा-विहीन, शांत-रस-प्रधान या शांत-रस-पर्यवसित हैं।

३—फागु न गीत है, न छंद है और न काव्य (-प्रकार) का नाम। ऐसा प्रतीत होता है कि फागु शब्दालंकारवाची अनुप्रासात्मक रचना है। संस्कृत में जिस प्रकार यमकबद्ध अनुप्रासमय काव्य होते हैं, वैसी रचना को भाषा में 'फाग बंध' कहा जा सकता है।[13]

श्री अंबालाल प्रेमचंद शाह ने फागु को एक विशिष्ट शैली मात्र माना है—अनुप्रास-यमक-प्रधान शैली। विद्वान् लेखक ने अपने कथन की पुष्टि में देवरत्न सूरि फाग, हेमविमल सूरि फाग, वसंतविलास, नेमीश्वर-चरित फागुबंध, फागु काव्य नर्तर्षि एवं जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु के अंशों को उद्धृत किया है। इन्हीं के आधार पर श्री शाह ने श्री अगरचंद नाहटा द्वारा संपादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित 'गुर्वावलि फागु' को इस विशिष्ट शैली के अभाव के कारण फागु नहीं माना है।

निस्संदेह फागु काव्यों के मध्य युग में यह 'प्रास-यमक-बंध' शैली प्रधानता प्राप्त करती है। यह युग की अलंकरण-प्रवृत्ति का प्रभाव है। कला एवं साहित्य सभी क्षेत्रों में उस समय आडंबर का प्राधान्य हो गया था। परंतु इसे फागु काव्यों का सामान्य लक्षण मान लेने में सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति यह है कि हमें थूलिभद्द फागु एवं नेमिनाथ फागु, इन दोनों प्रारंभिक काव्यों को फागु-श्रेणी से निकालना पड़ेगा, साथ ही सतरहवीं और अठारहवीं शती के भी बहुत से फागु काव्यों को छोड़ देना पड़ेगा। अतः स्पष्ट है कि मूल में यह परिभाषा ही दुष्ट है।

फागु की प्रारंभकालीन एवं उत्तरयुगीन रचनाएँ यमकबंध शैली में नहीं लिखी गई। इन रचनाओं को जब इनके रचयिताओं एवं प्रतिलिपिकारों ने ही 'फागु' नाम से अभिहित किया है तो हमें उसे स्वीकार करने में क्या आपत्ति? सच बात तो यह है कि इन निरलंकृत प्रसादमयी रचनाओं में फागु का जो सौंदर्य प्रस्फुट हुआ है वह यमकबद्ध फागु में नहीं हो पाया। इनके कुछ विशिष्ट उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

१३—अंबालाल प्रेमचंद शाह, 'श्री जैन सत्य प्रकाश', वर्ष १२, अंक ५-६, पृष्ठ १६५

(१) मंदिर तोरणि आवियउ मुणिवरु पिक्खेवी
चमकिय चिंचिहिं दासडिय वेगि जाइ वधावी।[१४]
(सिरि थूलिभद्द फागु, लगभग १३६० वि०)

(२) किरि सिसि बिंब कपोल कन्नहिं डोल फुरंता
नासा वंसा गरुड चंचु दाडिम फलदंता।[१५]
(श्री नेमिनाथ फागु, लगभग १४०० वि०)

(३) वरु तरुणी मिलि दियई रास ए फागु खेलावइ
तसु अंगणि नवनिधि रमइ संपति भरि आवइ।[१६]
(हलराज, स्थूलिभद्र फाग, १४०९ वि०)

(४) हँसल बिण किसिउ सरोवर कोइलि बिण किसिउ रान
वालम बिण किसि गोरड़ी रहि रहि नाह अजाण।[१७]
(राज, विरह देसातुरी फाग वसंत)

(५) सोल सहस गोपी मली के मनमोहन मदमाती रे
घूमर घाले चिहुं दिसे नृत्य करे गुण गाती रे।[१८]
(राजहर्ष, नेमि फाग, सतरहवीं शती)

इसी प्रकार और भी अनेक फागु उद्धृत किए जा सकते हैं जो स्पष्ट घोषणा करते हैं कि प्रास-यमक शैली फागु काव्यों में सामान्य रूप से प्रयोग में नहीं लाई गई। युग की पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति एवं अंशतः रूढ़ि के कारण यह विशिष्ट शैली अपनाई अवश्य गई, किंतु आगे चलकर, अब तक प्राप्त अंतिम फागु के निर्माता श्री राजहर्ष तक आते आते यह शैली शिथिल ही नहीं हुई अपितु छोड़ भी दी गई। अतः इस शैली को आधार मानकर फागु की परिभाषा बनाना किसी प्रकार समीचीन नहीं।

४—वसंतोत्सव से संबंध रखनेवाली, ऋतु के अभिनव उल्लास को प्रकट करनेवाली और जीवन को अभिनव भाव से भर देनेवाली वह विशिष्ट वर्णनात्मक

१४—प्राचीन गूर्जर काव्य संग्रह, पृ० ३८

१५—वही, पृ० ८३

१६—जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, पृष्ठ ४१२

१७—श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर की हस्तलिखित प्रति।

१८—वही।

रचना फागु है जिसमें विशिष्ट शब्द-छटा से युक्त एवं अर्थगंभीर यमक, अनुप्रास आदि की अलंकारी शोभा हो।[19] श्री लालचंद गांधी के इस कथन में फागु की विशेषताएँ संकलित कर दी गई हैं, पर इसमें परिभाषा की सूत्ररूपता का अभाव होने से इसे फागु की परिभाषा नहीं कह सकते।

फागु की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—'फागु वह गेय रूपक है जो मधु-महोत्सव में गाया और खेला जाता हो।' और भी संक्षेप में—'फागु मधु-महोत्सव संबंधी गेय रूपक है।'

इस परिभाषा में विषय को छोड़ दिया गया है। विषय का संबंध कवि एवं युग की रुचि से है। 'मधु' से संबंध रखने के कारण फागु का शृंगार-भावना की ओर झुकना स्वाभाविक है। वह सदा मसृण रूप को ही लेकर चलेगा। हाँ, जैनाचार्यों के प्रवेश के कारण फागु का विषय शमप्रधान होता गया। जनकवि वसंत में शृंगार-परिप्लुत रचना करते रहे, जिसका चरम पतन अश्लील गीतों में हुआ। किंतु इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिये जैनाचार्यों ने शांत को अपनाया। अवश्य ही स्थूलभद्र एवं नेमिनाथ से संबंधित फागु तथा अन्य रचनाएँ प्रसंग-वशात् शृंगारप्रधान हो गईं।

श्री कांतिलाल व्यास ने फागु के दो भेद किए हैं—एक जैन फागु, दूसरा ब्राह्मण फागु।[20] दूसरे शब्दों में हम इन्हें यथार्थवादी और आदर्शवादी अथवा शृंगारप्रधान और शमप्रधान फागु कह सकते हैं। पर यह विभाजन केवल कामचलाऊ है।

जैन विद्वानों के फागु काव्य पचासों की संख्या में प्राप्त होते हैं, किंतु जैनेतर विद्वानों के अधिक नहीं मिलते। जैनेतर विद्वानों ने रचनाएँ अवश्य की होंगी, किंतु उनको लिखने और सुरक्षित रखने की ओर ध्यान न देने से वे अब प्राप्त नहीं हैं। आगे जैन फागु काव्यों में से प्राचीनतम एवं विशिष्ट 'थूलिभद्द फागु' का कुछ परिचय दिया जाता है।

२

थूलिभद्द फागु और उसका कथासूत्र

जैसा पहले कहा जा चुका है, यह अब तक प्राप्त फागु काव्यों में सबसे

१९—श्री जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ११ अंक ७, पृ० २१२

२०—वसंत विलास, प्राक्कथन, पृ० ३६

प्राचीन है। इसके निर्माता जिनपद्म सूरि हैं जो अपने समय के विख्यात जैनाचार्य एवं कवि थे।[२१] इसकी रचना चौदहवीं शती के उत्तरार्ध में हुई। इसके पूर्व भी फागुबद्ध रचनाओं की परंपरा अवश्य रही, किंतु कोई पूर्ववर्ती फागु अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

थूलिभद्द फागु एक खंड काव्य है। इसमें कवि ने स्थूलभद्र के चरित्र का एक समुज्वल अंश लिया है। जैन-वाङ्मय में स्थूलभद्र का भूरिशः यशोगान किया गया है। 'स्थूलभद्रादपरो न योगी' ही कहकर संतोष नहीं किया गया, अपितु यहाँ तक कहा गया कि तीर्थंकरों का यश तो केवल तीन चौबीसी रहेगा, किंतु एकमात्र स्थूलभद्र का यश चौरासी चौबीसियों तक जगमगाता रहेगा।

स्थूलभद्र राजा नंद के मंत्री शकटार के ज्येष्ठ पुत्र थे। युवावस्था में उन्मार्गगामी होकर ये पाटलिपुत्र की परम सुंदरी गणिका कोशा के यहाँ दिन-रात पड़े रहते थे। शकटार की मृत्यु के उपरांत राजा को चिंता हुई कि मंत्री किसे बनाया जाय। स्थूलभद्र दुःशील थे, अतः उनके अनुज श्रीपक को मंत्रिपद के लिये आमंत्रित किया गया। श्रीपक ने आकर राजा से निवेदन किया कि बड़े भाई के रहते मैं मंत्रिपद का अधिकारी नहीं, पहले स्थूलभद्र का निर्णय प्राप्त कर लिया जाय।

स्थूलभद्र के पास राजा का संदेश पहुँचा तो उन्होंने विचार करने के लिये अवकाश माँगा। वे सहसा चित्रशाला से बाहर निकल आए और दूर किसी उद्यान में जाकर विचारमग्न हो गए। सांसारिक भोग-राग के प्रति उनके मन में वितृष्णा जाग उठी। सहसा उनके हृदय में संन्यास ग्रहण करने की स्फुरणा हुई और तदनुसार निश्चय कर उन्होंने साधु-वेश धारण कर लिया तथा उसी वेश में राज-सभा में जाकर बोले—'मयालोचितम्', अर्थात् मैंने विचार कर लिया। इसपर सब लोग बहुत चकित हुए। सबने समझाया-बुझाया, पर स्थूलभद्र का निश्चय अटल था। उन्होंने आचार्य संभूतिविजय से विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर ली।

एक बार चतुर्मास का समय आया जान संभूतिविजय के कई शिष्य भिन्न-भिन्न स्थानों में अभिग्रहपूर्वक चतुर्मास बिताने के लिये उनके पास गुरु-आज्ञा लेने

२१—द्रष्ट० 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' (श्री अगरचंद नाहटा, भँवरलाल नाहटा संपादित), पृ० १४

आए। किसी ने सिंह-गुहा के पास जाने की आज्ञा ली तो किसी ने विषधर सर्प की बाँबी के निकट चतुर्मास बिताने का निश्चय किया। उस समय स्थूलभद्र ने गुरु के पास आकर विनय की कि हे पूज्य! यदि आप आज्ञा दें तो मैं पाटलिपुत्र की वेश्या कोशा की चित्रशाला में चतुर्मास बिताऊँ, साथ ही विविध व्यंजनों का आस्वादन करते हुए अपनी साधना पर अचल रहूँ। इस अभिग्रह को सुनकर गुरु अत्यंत प्रसन्न हुए और मन में कहने लगे कि एकमात्र तुम्हीं ऐसे हो जो हजार विकारों में भी अपनी तपस्या को अस्खलित रख सकते हो। गुरु की आज्ञा पाकर स्थूलभद्र कोशा के रंगमहल में आए। उसने मुक्त हृदय से मुनि का स्वागत किया। यहीं से इस फागु का विषय प्रारंभ होता है।

नर्तकी कोशा का विभ्रम-विलास, उसकी कामुकतापूर्ण शत-सहस्र चेष्टाएँ, रंगशाला का अपूर्व साज-शृंगार और विविध स्वादु भोज्य पदार्थ—यह सारा भोग-राग का संभार स्थूलभद्र को विचलित न कर सका। उनका हृदय पंकजवत् निर्लिप्त निःसंग रहा। चार महीनों में उनका हृदय एक बार भी प्रकंपित न हुआ, एक क्षण के लिये भी उनकी पुतलियों में काम न झाँक सका। स्थूलभद्र का यह हिम-शिखर सा अडिग चरित्र कोशा का नेत्रोन्मीलनकारी हुआ।

काम-विजय का यह उदाहरण अपने ढंग का अकेला और अनूठा है। महाकवि कालिदास ने धीर की जो परिभाषा की है, स्थूलभद्र मानो उसके ज्वलंत उदाहरण हैं—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

[विकार की हेतुभूत वस्तुओं के रहते हुए भी जिनका हृदय विकारग्रस्त नहीं होता वे ही धीर पुरुष हैं।]

भासों में विभाजन

प्रबंध काव्यों की कथा को कुछ भागों में विभक्त किया जाता है। संस्कृत महाकाव्यों में 'सर्ग-बंध'[२२] पद्धति अपनाई गई थी। रामायण में सर्गों को 'कांड' तथा महाभारत में 'पर्व' नाम दिया गया है। रघुवंश, शिशुपाल-वध एवं नैषध आदि महाकाव्यों में सर्ग ही नाम रखा गया है। रामायण और महाभारत में एक सर्ग में

२२—'सर्गबंधो महाकाव्यम्'। (साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, ३०२)

भी कथा विविध भंगिमा के साथ विस्तृत रूप में प्रवाहित हुई है, अतः एक-एक सर्ग को भी अनेक अध्यायों में विभक्त करना पड़ा है।

प्राकृत भाषा के प्रबंध काव्यों में सर्ग का नाम 'आश्वास'[२३] रखा गया है। अपभ्रंश काव्यों में सर्ग या आश्वास के स्थान पर 'संधि'[२४] नाम का प्रयोग होने लगा। संधि के प्रारंभ में प्रायः ध्रुवक रखा जाता था, जो उसके गेय रूप का द्योतक है। आगे कुछ कड़वक रहते थे, जिनसे मिलकर संधि बनती थी। प्रत्येक कड़वक के बाद घत्ता रखा जाता था।[२५] यह कडवक-पद्धति भी भिन्न-भिन्न नाम धारण करती हुई किसी न किसी प्रकार सतरहवीं शती तक चलती रही।

अद्दहमाण रचित 'संदेशरासक' में संधि के स्थान पर 'प्रक्रम' नाम दिया है। 'समरारासु'[२६] में प्रथम भाषा (भास), द्वितीय भाषा आदि नाम रखकर कथा को विभक्त किया गया है; यहाँ 'भाषा' का प्रयोग कडवक के स्थान पर हुआ है। 'जंबूसामिचरिय'[२७] में यह कडवक-पद्धति 'ठवणि' (स्थापनी, न्यास)[२८] नाम धारण

२३—(क) प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन् सर्गा आश्वाससंज्ञकाः। (वही, ३०४)

(ख) प्राकृतभाषानिबद्धाश्वासकबन्धं सेतुबन्धादि (हेमचंद्र, काव्यानुशासन, अ० ८)

२४—(क) अपभ्रंशनिबन्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः—साहित्यदर्पणकार का यह कथन ठीक नहीं है। अपभ्रंश काव्यों में सर्ग कुडवक नहीं, संधि कहलाते थे। यह संधि कडवक-समूहात्मक होती थी—कडवकसमूहात्मकः संधिः।

(ख) अपभ्रंशभाषानिबन्धसन्धिबन्धनम्। (हेमचंद्र-काव्यानुशासन)

२५—हेमचंद्र ने छंदोऽनुशासन में (अ० ६, प्रारंभ) ध्रुवक और घत्ता के संबंध में लिखा है—'सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वा'। दो कडवकों के बीच में आनेवाला घत्ता (छंद-विशेष, द्रष्ट० प्राकृतपैंगल) कडवक का उपसंहार करता है और आगामी अर्थ की सूचना भी देता है। घत्ता के श्रोताओं में नया कौतुक जाग उठता है, रुकी हुई कथाधारा आगे बढ़ती है और लंबे कथन में स्वाभाविकता आती है। विशेष द्रष्टव्य—रामनारायण विश्वनाथ पाठक, प्राचीन गुजराती छंदो, प्रकरण ४।

२६—प्राचीन गूर्जर काव्य संग्रह, पृ० २७-३७

२७—वही, पृ० ४१

२८—पाइअ सद्द महण्णवो, पृ० ४६०

कर लेती है। 'कछूली रास'[29] में 'वस्त' और 'पेथड रास'[30] में 'लढण' नाम दिए गए हैं।

सिरि थूलिभद्द फागु की कथा को कवि ने कुछ 'भासों' में विभक्त किया है। यह भास-विभाजन सावधानी के साथ किया गया है। प्रत्येक भास की समाप्ति पर घत्ता ने थोड़ी देर के लिये कथा को विश्राम देकर उसमें एक नया वेग उत्पन्न कर दिया है। यह विभाजन निम्नलिखित प्रकार से हुआ है—

भास १—मंगलाचरण के रूप में कवि ने जिन के पदपद्मों में प्रणाम कर 'फागुबंधि' काव्य-पद्धति की ओर इंगित किया है। थूलिभद्द का यशःस्तवन कर शीघ्र ही कथा का प्रारंभ कर दिया गया है। वेश्या के ससंभ्रम करबद्ध होकर आने तक का इसमें वर्णन है।

भास २—स्थूलभद्र का रंगशाला में प्रवेश और वर्षा का चारु चित्र।

भास ३, ४—कोशा के नखशिख सौंदर्य का वर्णन।

भास ५—मुनि को लुभाने के लिये कोशा के हावभाव का वर्णन।

भास ६—मुनि की चारित्रिक दृढ़ता एवं शील-संयम की अटलता।

भास ७—उपसंहार। काम-विजय पर देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि, युगप्रधान स्थूलभद्र की गौरवगरिमा एवं कवि के स्वनामोल्लेख सहित वसंत में नाचने-गाने के वर्णन के साथ फागु की समाप्ति।

नाटकीय भंगिमा

यह 'फागुबंधि' काव्य एक प्रकार का गीति-नाट्य है। कथा में स्थान-स्थान पर नाटकोचित सजीवता एवं दृश्यता अंकित की गई है। स्थूलभद्र और कोशा का वार्तालाप जहाँ दोनों के चरित्रों को विश्लेषित करता है वहाँ इस फागु में दृश्य काव्य की सजीव भंगिमा भी ला देता है।

'कंचण जिम झलकंत कांति' वाले स्थूलभद्र के कोशा के द्वार पर पहुँचते ही चकितचित्त दासियाँ आकर आदरपूर्वक अगवानी करती हैं। यह सुसंवाद कोशा को अधीर बना देता है और वह भागी भागी मुनि के पास पहुँचती है—

२६—प्राचीन गूर्जर काव्य संग्रह, पृ० ५६

३०—वही, परिशिष्ट १०, पृ० २४

वेसा अतिहि ऊतावलिय हारिहि लहकंती ।
आविय मुणिवर राय पासि करपत्र (?) जोडंती ॥

वेश्या को बद्धपाणि देखकर मुनि ने 'धर्म लाभु' कहा और चतुर्मास करने के लिये चित्रशाला माँगी। कोशा के लिये 'धर्मलाभु' अनभीप्सित शब्द था, उसके लिये वह वरदान न होकर अभिशाप रूप था। परंतु न वह स्थूलभद्र के 'धर्म लाभु' शब्द से शंकित है, न उनके मुनि-वेश से भीत। वह उनके आगमन से अत्यंत आह्लादित है। उसे अपने यौवन और उन्माद पर, अपनी विच्छित्ति और रूप-माधुरी पर विश्वास है। इसलिये वह सब कुछ भूलकर अपना शृंगार करने लग जाती है।

एक दिन वह चंपावर्णी, सलोने नयनों वाली, 'हावभाव-बहुगुण-संपन्नी' कोशा सजधज कर मुनि के पास पहुँची। उसका विश्वास था कि उसके यौवन का उद्दाम वेग मुनि को अस्थिर कर देगा। परंतु उसकी आशा के विरुद्ध मुनि न चौंके, न अस्थिर हुए। तब कामोन्मत्त कोशा व्यथित होकर बोली—'हे निष्ठुर! बारह वर्ष तक किया हुआ प्रेम तुमने किस कारण छोड़ दिया ?'—

बारह बरिसहं तणउ नेहु किहि कारण छंडिउ ।

इसपर शांत मानस स्थूलभद्र ने प्रबोधन के स्वर में उत्तर दिया --

... .वेस अह खेदु न कीजइ ।
लोहहि घडियउ हियउ मज्झु तुह वयणि न भीजइ ॥

[खेद न करो कोशा ! मेरा लौह - घटित हृदय तुम्हारी बातों से नहीं भींग सकता ।]

किंतु कामपीड़िता कोशा अपने को सँभाल नहीं पाती और उद्वेलित मानस से आग्रह करती है—

एरिसु, पावसु कालु सयलु मूसिउं माणीजइ ।

[ऐसा सुहावना वर्षाकाल है ! तुम मेरे साथ आनंद मनाओ ।]

किंतु मुनि कहते हैं—

...............वेस सिद्धि रमणी परिणेवा ।
मणु लीणउ संजम सिरीहि सुं भोग रमेवा ॥

[हे कोशा ! मैंने सिद्धि रूपी रमणी से विवाह कर लिया है। मेरा मन संयमरूपी लक्ष्मी ने ले लिया है, मैं उसीके साथ भोग-रमण करता हूँ।]

इसपर कोशा अपनी विदग्धता का परिचय देती हुई व्यंग करती है—

..............साचउ कियउ नवलइ राचइ लोउ।

मूं मिल्हिवि संजम सिरिहि जउ रातउ मुणिराउ॥

[तो यह कथन सत्य ही है कि लोग नवीन से ही प्रेम करते हैं। तभी तो मुनिराज मुझे छोड़कर संयमश्री में अनुरक्त हो गए हैं।]

इसपर भी स्थूलभद्र किंचिन्मात्र विचलित न हुए और बोले--

चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थरु गिह्णेइ?

तिम संजमसिरि परिनएवि बहुधम्मसमुज्जल

आलिंगइ तुह कोस कवनु पर संत महाबल?

[चिंतामणि को छोड़कर पत्थर कौन ग्रहण करता है? उसी प्रकार हे कोशा! धर्म-समुज्वल संयमश्री से प्रेम-संबंध करके कौन ऐसा है जो तुम्हारा आलिंगन करेगा?]

कोशा को अनुभव हुआ जैसे उसके सारे शस्त्र कुंठित हो गए हैं। हारकर बोली—

..............जुब्बल फल लीजइ।

नयणंतरि संजम सिरिहि सुह सुहिण रमीजइ॥

[पहले यौवन का आनंद ले लो, फिर संयमश्री के साथ सुख से रमण करना।]

परंतु मुनि ने तो जो व्रत ले लिया वह ले लिया। अब कौन ऐसा है पृथ्वी-तल पर, जो उनका मन मोह सके—

कवणु सु अच्छइ भुवणतले जो मह मणु मोहइ।

स्थूलभद्र की ऐसी वीतराग-भावना एवं एकनिष्ठता को देखकर कोशा का गर्व एकदम उतर गया। वह नमितनयन सलज्जानन मुनि के चरणों पर गिर पड़ी।

इस प्रकार कवि ने इस फागु काव्य के कथानक को बड़ी सुंदरता के साथ आगे बढ़ाया है और वार्तालाप द्वारा काव्य के शांत सरोवर में भावोर्मियाँ उठाकर उसे हृदयाभिराम बना दिया है।

साहित्यिक मूल्यांकन

(अ) प्रकृति-सुषमा—रंगशाला में स्थूलभद्र के प्रवेश के साथ ही कवि ने वर्षा ऋतु का अत्यंत सजीव एवं उन्मादक वर्णन किया है। तीन छंदों में अजस्र धारासार वृष्टि एवं मेघों का मधुर गंभीर गर्जन, जलधाराओं का दुर्धर्ष कोलाहल,

मानिनियों का नृत्य, वियोग-विधुरा कामिनियों के साश्रु नयन—ये सभी जैसे सजीव होकर बोल उठे हैं। शब्द ध्वननशील हैं। पुनरावृत्त ध्वन्यनुकारी शब्दसमूह में वर्षा का सारा दृश्य साकार हो उठा है।

१—झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति॥
झबझब झबझब झबझब ए बीजुलिय झबकइ।
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणि मणु कंपइ॥

२—महुर गंभीर सरेण मेह जिम जिम गाजंते।
पंचबाण निय कुसुमबाण तिम तिम साजंते।
जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ।
तिम तिम कामिय चरण लग्गि निय रमणि मनावइ॥

३—सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते।
माण मडप्फर माणणिय तिम तिम नाचंते।
जिम जिम जल भर भरिय मेह गयणंगणि मिलिया।
तिम तिम कामीतणा नयण नीरिहि झलहलिया॥

(आ) नारी का अंग-सौंदर्य और उसकी साजसज्जा—वर्षा की इस पृष्ठ-भूमि पर कवि ने कोशा की अंग-सुषमा का आकर्षक वर्णन किया है और उसकी साजसज्जा को अत्यंत मनोमोहक रूप में चित्रित किया है। कोशा ने शृंगार किया। चंपक, केतकी एवं जया कुसुमों से कुंतलराशि को सजाया। सुंदर परिधान, गले में झलमलाता मोतियों का हार, पैरों में नूपुरों का रणन-स्वर। वेणी कामदेव के खड्ग सी दिखाई देती थी। तुंग पयोधर शृंगार के (पुष्प) स्तवक अथवा कामदेव के सुधा-भरे घट सदृश थे।

कोशा ने आँखों में अंजन सारा। माथे में माँग पाड़ी। वक्षप्रदेश कंचुकी से ढका। उसके कर्णयुगल कामदेव के दोला से दीखते थे। तरंग सी चंचल चपल आँखें, सौंदर्य-रस से भरी हुई लघु कूप सी नाभि, काम के विजय-स्तंभ सी जंघाएँ और मदन के अंकुश सदृश उसके नख-पल्लव सुशोभित थे। इस प्रकार नव यौवन एवं नवीन प्रेम से उन्मत्त उस कोशा ने रति-क्रीडा की भावना से स्थूलभद्र के पास जाने की तैयारी की।

(इ) रस-व्यंजना—इस फागु के प्रारंभ में कवि ने शृंगार रस का सफलता के साथ उत्कर्ष दिखाया है। कोशा की विविध विलास-चेष्टाओं के वर्णन में कवि कहीं भी कुंठित नहीं होता। यहाँ यह मालूम ही नहीं होता कि यह रचना किसी जैनाचार्य की है। यदि कवि इस वर्णन को इतनी तन्मयता के साथ उपस्थित न करता तो स्थूलभद्र की मार-विजय प्रभावहीन हो जाती।

शृंगार का यह उच्छल प्रवाह अंत मे शांत रस के गंभीर सागर में जा गिरता है—अपनी संपूर्ण विफलता और व्यर्थता के साथ। यहीं पर रचना का ध्येय मुखर हो उठा है। यही शांत-रस जैन कवि का काम्य है। वेश्या की करुणा-विगलित वाणी स्थूलभद्र के लौह-निर्मित हृदय को आर्द्र न कर सकी—'लोहहि घड़ियउ हियउ मज्झ, तुह वयणि न भीजइ।'

कवि ने यहाँ शांत साधु में उत्साह की व्यंजना कराई है। स्थूलभद्र ने एक सच्चे योद्धा की तरह कामदेव को ध्यान की तलवार से पछाड़ दिया। इस प्रकार यह काव्य काम-विजय के साथ समाप्त होता है। यहाँ वीर रस भी झलक उठा है। कवि शृंगार का सम्यक् रूप से उद्रेक करने में कृतकार्य हुआ है, पर स्थूलभद्र की शांत गंभीर मुद्रा के द्वारा इस काव्य की चरम-परिणति शांत रस में हुई है। वीर रस और शांत रस का यह मिलन, जिसकी तह में शृंगार रस मूर्च्छित पड़ा है, इस काव्य में अनूठेपन के साथ संपन्न हुआ है।

(ई) भाषा एवं छंद-योजना—कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। एक-एक शब्द को चुन-चुनकर कवि ने कविता में नगीने की तरह जड़ा है। प्रसंग के अनुसार मधुर-कोमल एवं कर्कश-कठोर वर्णच्छटा इस काव्य को बहुत ऊँचा उठा देती है। एक ओर कवि कोशा की चंचल आँखों के वर्णन में 'चंचल चपल तरंग चंग जसु नयन कचोला' जैसी मधुर शब्दावली का प्रयोग करता है तो दूसरी ओर युद्ध का विकट दृश्य उपस्थित करने के लिये वीररसोचित द्वित्वप्रधान परुष शब्द-विन्यास को जुटाता है—'मलियउ जिणि जगि मल्ल सल्ल रइवल्लह माणो।'

इस फागु काव्य की छंद-योजना कोई चमत्कारपूर्ण नहीं है। प्रत्येक भास के प्रारंभ में दोहा और फिर तीन रोला छंदों का क्रम है। छठे भास में दोहे के बाद केवल दो रोला छंद हैं। बीच में दोहा घत्ता का काम करता है।

इस फागु की भाषा अपभ्रंश की अंतिम अवस्था से संबंधित है, जिसे

अपभ्रंशोत्तर नाम दिया गया है। इसे पुरानी हिंदी, जूनी राजस्थानी वा जूनी गुजराती भी कहा जा सकता है।

अपभ्रंश भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अभाव सा रहा है। पर इस काव्य में तत्सम-ग्रहणशीलता की ओर स्पष्ट झुकाव दिखाई पड़ता है। गंभीर, पंच-बाण, कुसुमबाण, परिमल, कपोल-पालि आदि अनेक शब्द इसके प्रमाण हैं।

'आपणा कवियो' के विद्वान् लेखक श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने इस काव्य में 'सल्लर' (सिपाही-सालार) को अरबी बताया है। यह भ्रांत मंतव्य है। 'सल्लर' शब्द इस फागु में नहीं आया। पठन-भ्रांति के कारण ही शास्त्री जी ने इसकी उद्भावना की है। 'मलियउ जिणि जगि मल्ल सल्ल रइवल्लह माणो'—इस पंक्ति को शास्त्री जी ने 'मिलियउ जिणि जगि मल्ल सल्लर इवल्लह माणो'—इस तरह पढ़ा है। इस प्रकार अर्थ-संगति भी नहीं बैठ सकती। 'सल्ल' शब्द शल्य का अपभ्रंश है और 'रइवल्लह' का अर्थ है रतिवल्लभ। उक्त पंक्ति का अर्थ है—'जिस (स्थूल-भद्र) ने संसार के बड़े-बड़े वीरों को शल्य की तरह चुभनेवाले रतिवल्लभ (कामदेव) के मान को मर्दित कर डाला।'

एक स्थान पर और शास्त्री जी 'छाया' देने में चूक गए हैं—

मूल पाठ—खळहळ खळहळ खळहळ ए वाहळा वहंति।
छाया—खळहळ खळहळ खळहळ ए वायु बहंता।

'वाहळा' का अर्थ वायु नहीं होता। पाइअ सद् महण्णवो[31] में 'वाहलिया' या 'वाहली' का अर्थ क्षुद्र नदी या छोटा जल-प्रवाह दिया है। हेमचंद्र ने भी 'देसी सद् संगहो' में इसका अर्थ क्षुद्र जल-प्रवाह दिया है। राजस्थानी भाषा में यह शब्द आज भी बरसाती नाले या क्षुद्र जल-प्रवाह के अर्थ में प्रयुक्त होता है—

डूंगर केरा वाहळा, ओछां केरा नेह।
वेता वहै उतावळा, छिटक दिखावे छेह।

सामाजिक पृष्ठभूमि

इस काव्य की सामाजिक दृष्टि से भी कुछ उपयोगिता प्रमाणित है। प्रथम तो यह ज्ञात होता है कि फाल्गुन में सामूहिक नृत्य का शताब्दियों से रिवाज रहा है। आज भी फाल्गुन में 'रम्मत' (गीति-नाट्य) की प्रथा है। गुजराती 'गरबा' और

३१—पृष्ठ ६५०

राजस्थानी 'घुम्मर' और 'घिन्नड़' इसी के रूपांतर हैं। 'घिन्नड' लकुटा रास या डंडिया रास है। फाल्गुन के प्रारंभ होते ही राजस्थान के नगर-नगर और ग्राम-ग्राम के मुक्त प्रांगणों—चौकों—में 'कुण मांडया ए सुहागण थारा हाथ, घिन्नड़ रमबा म्हे चाल्या' की ध्वनि गूँज उठती है।

इस काव्य से यह भी पता चलता है कि जैन श्रमण बिना किसी संकोच के चाहे जिसके यहाँ चतुर्मास कर सकते थे; किसी प्रकार का जातिपाँति का बंधन नहीं था और बिना किसी प्रकार के भेदभाव के जैनेतर लोगों के यहाँ भी भिक्षा ग्रहण की जा सकती थी।

इस काव्य से यह भी स्पष्ट है कि वेश्या-संस्था भारतवर्ष में व्यवस्थित ढंग से चलित थी। द्वार-स्थित दासी से समाचार पाते ही कोशा का सजधज कर आना तत्कालीन वेश्या-संस्था के व्यवस्थित रूप की ओर संकेत करता है। इसी से तो कौटलीय अर्थशास्त्र में गणिकाध्यक्ष[३२] के कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार यह फागु काव्य भाव-सौष्ठव, शिल्प-विधान, प्रकृति-सुषमा एवं सामाजिक पृष्ठभूमि—सभी दृष्टियों से सुंदर बन पड़ा है। अभी तक प्राप्त होनेवाले फागु काव्यों में यह बहुत पुराना है, अतः इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

३२—द्रष्ट० कौटलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण२, अध्याय २७

प्राचीन तिथियों के साथ 'शुभ वार' का उल्लेख

[श्री वासुदेव गोस्वामी]

संवत् १६८७ रचनाकाल अंकित गोसाईंचरित में बाबा वेणीमाधवदास ने गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस की रचना-समाप्ति संवत् १६३३ की राम-विवाह-तिथि अर्थात् मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को इस प्रकार बतलाई है—

तैंतीस को संवत औ मगसर।
सुभ द्यौस सुराम बिवाहहि पर॥

उक्त उद्धरण में वासर के स्थान पर 'सुभ द्यौस' मात्र कहा गया है। कदाचित् इसी लिये डा० माताप्रसाद गुप्त ने मूल गोसाईंचरित के मानस-समाप्ति-तिथि संबंधी उल्लेख पर अपने विचार व्यक्त करते हुए उसमें दिन का नाम स्पष्ट रूप से न लिए जाने को भी एक कारण बनाकर उक्त तिथि की प्रामाणिकता के विषय में निश्चयात्मक रीति से कुछ नहीं कहा है। किंतु इस संबंध में उनके ग्रंथ 'तुलसी-संदर्भ' में संगृहीत 'गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं का कालक्रम' शीर्षक लेख की एक पादटिप्पणी में 'शुभ द्यौस' से किसी वार-विशेष का अभिप्राय होने की संभावना लेकर तिथि की ज्योतिष-गणना के अनुसार वार की परीक्षा की गई है—

'शुभ द्यौस' का अर्थ मंगलवार लगाकर बाबू श्यामसुंदरदास ने (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ५ अंक ४ में) लिखा है कि यह तिथि ठीक नहीं है। क्योंकि सं० १६३३ में मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी रविवार को पड़ती है, न कि मंगलवार को। किंतु 'शुभ द्यौस' का अर्थ रविवार ही होता हो यह संभव है, क्योंकि सं० १६६६ में लिखे हुए पंचनामे में उसकी तिथि इस प्रकार दी हुई है—'सं० १६६९ समये कुआर सुदि तेरसि वार शुभदिने लिषितं।' और सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'शुभदिने' का अर्थ रविवार लेकर उक्त तिथि की शुद्धता निश्चित की है ('इंडियन ऐंटिक्वेरी', १८९३ ई०, पृ० ९८)। यदि वस्तुतः 'शुभ द्यौस' का अर्थ रविवार हो तो वेणीमाधवदास की दी हुई मानस-समाप्ति की तिथि कम से कम गणना के अनुसार अवश्य शुद्ध है।

उद्धृत पादटिप्पणी से दो बातें प्रकट होती हैं—(१) मूल गोसाईंचरित में रामचरितमानस की समाप्ति-तिथि से संबंधित वासर का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। (२) 'शुभ द्यौस' अथवा 'शुभदिने' आदि पद बाबू श्यामसुंदरदास तथा सर जार्ज ग्रियर्सन आदि विद्वानों के अनुसार किसी वार-विशेष के द्योतक हैं।

उक्त दोनों धारणाओं से प्रस्तुत लेखक सहमत नहीं। मूल गोसाईंचरित में मानस की समाप्ति-तिथि का उल्लेख करनेवाले समस्त अंश को पढ़ने पर प्रकट होगा कि बाबा वेणीमाधवदास ने संवत् १६३३ की मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को मंगलवार होने का स्पष्ट उल्लेख मूल गोसाईंचरित के इकतालीसवें दोहे में किया है। यथा—

दुइ वत्सर सातेक मास परे। दिन छब्बिस माझ सो पूर करे॥
तैंतीस को संवत औ मगसर। सुभ द्यौस सुराम विवाहहि पर॥
सुठि सम जहाज तयार भयो। भव सागर पार उतारन को॥

× × ×

हरि रस सरबस समुझावन को। अतिसंमत मार्ग सुझावन को॥
जुत सप्त सोपान समाप्त भयो। सदग्रंथ बन्यो सुप्रबंध नयो॥

महिसुत बासर मध्य दिन, सुभ तिथि तत्सत मूल।
सुर समूह जय जय किए, हरषित बरषे फूल॥ ४१॥

उक्त दोहे में 'महिसुत बासर' से 'मंगलवार' का कथन स्पष्ट है। यदि ज्योतिष-गणना के अनुसार संबंधित तिथि को मंगलवार नहीं था तो उसे निश्चित रूप से अप्रामाणिक मानना होगा। 'शुभ द्यौस' में किसी वार विशेष की संभावना लेकर उसे गणना से शुद्ध मानने की ओर विचार करना ही अनावश्यक है।

मूल गोसाईंचरित के इकतीसवें दोहे के आगे जो उल्लेख है उसमे भी वेणीमाधवदास का 'मंगलवार' कथन संभावित है—

जेहि छिन यह आरंभ भो, तेहि छिन पूरेउ पूर।
निरबल मानव लेखनी, खीचि लियो अति दूर॥ ४२॥

रामचरितमानस की रचना के प्रारंभ का वर्ष संवत् १६३१, मास चैत्र तिथि नवमी और वार मंगल था। इसे मानस ही में गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस प्रकार लिखा है—

संवत् सोरह सौ इकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

उक्त प्रारंभ के समय के संबंध में मानस में स्पष्ट कोई उल्लेख नहीं है, परंतु मूल गोसाईंचरित में 'प्रात समय' लिखा है—

नवमी मंगलवार सुभ, प्रात समय हनुमान।
प्रगटि प्रथम अभिषेक किय, करन जगत कल्यान॥ ३९॥

अतः वेणीमाधवदास के 'जेहि छिन यह आरंभ भो, तेहि छिन पूरेउ पूर' के उल्लेख से मानस के आरंभ और समाप्ति के वासर का एक होना इंगित प्रतीत होता है। क्योंकि समाप्ति के समय का काल (छिन) तो मूल गोसाईंचरित में ही इकतालीसवें दोहे में 'मध्य दिन' स्पष्ट रूप से कहा है, और उसके प्रारंभ के लिये उनतालीसवें दोहे में 'प्रात समय' कहा जा चुका है। अस्तु, रचना-समाप्ति का वासर मूल गोसाईंचरित के अनुसार स्पष्टतः मंगलवार था।

अब रहा प्रश्न 'सुभ द्यौस' अथवा 'शुभ दिन' आदि पदों से किसी वार विशेष के अभिप्राय का। छंद-रचना में पद-पूर्ति के लिये जिन शब्दों को सरलता से भरा जा सकता है उनमें 'शुभ' शब्द बहुत सुलभ है। मूल गोसाईंचरित के थोड़े से ही उद्धृत अंश में तीन स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है। जहाँ तिथि के उल्लेख के साथ वार के लिये 'सुभ द्यौस' कहा गया है वहाँ इकतालीसवें दोहे में 'महिसुत वासर' के स्पष्ट उल्लेख के साथ तिथि के लिये 'सुभ मिति' का भी कथन है। हनुमान-भक्त के संबंध में मंगलवार को शुभ वार मान लेना और बात है, किंतु 'शुभ वार' से मंगलवार ही अर्थ हो सो नहीं।

जैसा कि ऊपर के उद्धरण से प्रकट है, सर जार्ज ग्रियर्सन ने 'सं० १६६६ समये कुआर सुदि तेरसि वार शुभदिने लिषितं' में 'शुभदिने' का अर्थ रविवार लेकर उक्त तिथि की शुद्धता निश्चित की है। यह केवल एक संयोग की बात है कि उस तिथि को रविवार ही रहा हो, जिसे सर जार्ज ग्रियर्सन ने शुभवार मान लिया।

राधावल्लभीय संप्रदाय के अनुयायी अनन्य अली नामक एक भक्त कवि हो गए हैं। इनकी वाणी के तीस ग्रंथों की संवत् १८८३ की एक हस्तलिखित प्रति को लेखक ने देखा है। सौभाग्यवश अनन्य अली जी ने अपने सभी ग्रंथों में समाप्ति-तिथि का उल्लेख किया है और साथ ही 'शुभ वार' अधिकांशतः लिखा है। उनके ग्रंथों की सूची यह है—

संख्या	ग्रंथ-नाम	समाप्ति-संवत् एवं तिथि	वासर का उल्लेख
१	लीला रहसि बचन बिलास	१७६७ सावन शुक्ल ३	शुभ वार
२	सुरतात विलास	१७६७ सावन शुक्ल ३	×
३	लीला कुंज विलास	१७६७ सावन शुक्ल ५	शुभ वार
४	लीला संध्या समै विलास	१७६७ सावन शुक्ल ११	शुभ वार
५	लीला सैन समै विलास	१७६७ सावन शुक्ल ११	शुभ वार
६	लीला उत्थापन समै विलास	१७६७ सावन शुक्ल ११	×
७	लीला सज्या विलास	१७६७ सावन शुक्ल १३	शुभ वार
८	चंदन चित्र विचित्र विलास	१७६७ अगहन कृष्ण ८	शुभ वार
९	फूल रचनावली	१७६७ अगहन शुक्ल ८	शुभ वार
१०	चंग खेल विलास	१७६७ पौष शुक्ल ११	शुभ वार
११	क्रीडा सर खेल विलास	१७६७ माघ शुक्ल ११	शुभ वार
१२	लाडली जू की नामावली	१७७४ सावन शुक्ल ३	शुभ वार
१३	व्याह विनोद	१७७५ माघ शुक्ल १५	शुभ वार
१४	षट् ऋतु विलास	१७७७ वैशाख शुक्ल ८	शुभ वार
१५	लीला राज भोग विलास	१७७७ सावन शुक्ल ७	शुभ वार
१६	लीला स्वप्न विलास	१७७८ जेठ कृष्ण ११	शुभ वार
१७	लीला स्नान विनोद	१७७८ सावन कृष्ण ४	शुभ वार
१८	लीला शृंगार विनोद	१७७८ भादों कृष्ण २	शुभ वार
१९	लीला जुगल सभा विनोद	१७७९ सावन कृष्ण १३	शुभ वार
२०	प्रतिबिंब विलास	१७८० माघ शुक्ल ८	शुभ वार
२१	नवल जुगल विनोद	१७८० माघ शुक्ल १४	शुभ वार
२२	चौपरि खेल विनोद	१७८० फागुन कृष्ण ११	शुभ वार
२३	सतरंज विनोद	१७८० फागुन शुक्ल २	शुभ वार
२४	लीला थल नौका खेल विनोद	१७८१ सावन कृष्ण ५	शुभ वार
२५	गेंद खेल	१७८१ सावन शुक्ल ३	शुभ वार
२६	आंख मिचौनी	१७८१ सावन शुक्ल ७	शुभ वार
२७	भड्डुखेल विलास	सावन शुक्ल ११	×
२८	बचन विलास	१७८१ भादों कृष्ण ३	×
२९	लीला मंगल विनोद	१७८५ भादों कृष्ण ७	शुभ वार
३०	वंशी विलास	१७८५ भादों कृष्ण ५	शुभ वार

उक्त तालिका को देखने से प्रकट होगा कि ग्रंथ संख्या २, ६, २७ एवं २८ को छोड़कर शेष २६ ग्रंथों की रचना-तिथि के साथ 'शुभ वार' का उल्लेख हुआ है। यथा--

(१) लीला रहसि वचन विलास में--

संवत सत सत्रह पर, त्रेसठि ऊपर चारि।
सावन मास त्रोदसर, शुक्ल पक्ष शुभ वारि ॥४१॥

(३) लीला कुंज विलास में--

संवत सत्रह सौ भये, ऊपर त्रेसठि चारि।
सावन मासे पंचमी, शुक्ल पक्ष शुभ वार ॥४६॥

उक्त दोनों ग्रंथों की रचना-तिथियों में दो दिन का अंतर है, अतः उन तिथियों में एक ही वार का होना असंभव है। इस कारण 'शुभ वार' किसी वासर-विशेष का बोधक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार तिथियों में दो दिन के अंतर पर 'शुभ वार' के उल्लेख संबंधी दो उद्धरण और लीजिए--

(४) लीला संध्या समै विलास में--

संवत सत्रह सौ पर, त्रेसठि ऊपरि चारि।
सावन की एकादशी, शुक्ल पक्ष शुभ वार ॥४६॥

(७) लीला सज्या विलास में--

संवत सत्रह सौ पर, त्रेसठि ऊपरि चारि।
सावन मासे त्रोदशी, शुक्ल पक्ष शुभ वारि ॥५२॥

इससे स्पष्ट है कि 'शुभ वार' के उल्लेख से अनन्य अली का किसी वासर-विशेष से अभिप्राय नहीं है। अली जी की वाणी से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व की परंपरा लक्षित हो ही जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'शुभ वार', 'शुभ द्यौस', 'शुभदिने' आदि उल्लेख किसी वासर-विशेष के द्योतक नहीं हैं और उनके आधार पर हम किसी तिथि की शुद्धता निश्चित नहीं कर सकते।

नवलसिंह कृत 'जौहरिन तरंग'

[श्री मुनि कांतिसागर]

प्रस्तुत ग्रंथ 'जौहरिन तरंग' की अपूर्ण हस्तलिखित प्रति ग्वालियर-निवासी श्री भास्कर रामचंद्र भालेराव जी को संवत् १९९१ में जौरा परगना के एकांत वन्य ग्राम टूटावली के एक गूजर परिवार के राणा विक्रमाजीत के पौत्र से प्राप्त हुई थी, जो उसे समथर से लाए थे। यह प्रति श्री भालेराव जी के संग्रह में सुरक्षित है और इसकी प्रतिलिपि इन पंक्तियों के लेखक के पास है। मूल प्रति की अंतिम प्रशस्ति न होने से इसके रचनाकाल या लिपिकाल का पता इससे नहीं चलता, पर यह बहुत प्राचीन नहीं है और लिपि अत्यंत सामान्य है। ख और ब अक्षरों का पुस्तक भर में अभाव है।

'जौहरिन तरंग' रत्न-परीक्षा विषयक एक काव्य ग्रंथ है और इस विषय के साहित्य में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसकी शैली और रचना-प्रकार अपूर्व है। यद्यपि दुर्भाग्य से ग्रंथ अपूर्ण है तथापि विषय-वर्णन और विवेचन का जहाँ तक प्रश्न है, यह पूर्ण है। केवल कथा का अंतिम भाग पत्र फट जाने से अनुपलब्ध है। जैसा कि आगे प्रस्तुत किया जायगा, इसकी रचना पर भक्ति-परंपरा का पूर्ण प्रभाव है।

मणि-रत्नों का महत्त्व

भारत में मणि-रत्नों का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है। आभूषणों में तथा दुष्ट ग्रहों से रक्षा के निमित्त इनके उपयोग के अतिरिक्त आयुर्वेद वालों ने तो इन्हें भोज्य पदार्थों में भी सम्मिलित कर लिया है। शालीन भक्तगण ने अपने आराध्य या उपास्य देवों की प्रतिमा-निर्माण के पुनीत कार्य तक में इनकी उपेक्षा नहीं की। यही कारण है कि आज भारत के विभिन्न प्रांतों में प्रचुर संख्या में लेखयुक्त रत्न-मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।[1] सीरपुर की बौद्ध धातु-प्रतिमाओं के आभूषणों

१—मुनि कांतिसागर, 'खंडहरों का वैभव', पृष्ठ ३८

में पुखराज, हीरा, नीलम और मुक्ता का प्रयोग हुआ है।[२] तात्पर्य यह कि शरीर-रक्षा से लगाकर जीवन के सभी क्षेत्रों में इनकी उपयोगिता निर्विवाद थी। इनका वर्णानुसार वर्गीकरण भी किया गया था—वर्ण-व्यवस्था के प्रभाव से बिचारे ये पत्थर भी न बच सके।

रत्न-परीक्षा विषयक अन्य साहित्य

संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के प्राचीन ग्रंथों में रत्नों की खूब महिमा गाई गई है। इन्हें अचित्य-प्रभावशाली और शक्तिसंपन्न घोषित किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रादि नीति-ग्रंथों, जैनागम, बौद्ध वाङ्मय तथा तत्परवर्ती कथा एवं प्रबंधात्मक साहित्य में रत्नों तथा उपरत्नों का विशद एवं सारगर्भित वर्णन है। बुद्ध भट्ट और सुरमिति इस विज्ञान के पारंगत मनीषी थे। अगस्त्य और ठक्कुर फेरू[३] की रचनाएँ आज भी रत्न-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण परिचय देती हैं। फेरू की रत्न-परीक्षा[४] में तात्कालिक परीक्षण-परंपरा का समावेश है और उसमें यवनदेशीय रत्नों की चर्चा है।

प्राकृत एवं संस्कृत का क्षेत्र सीमित हो जाने पर लोकभाषाओं में मणि-रत्नों पर मार्मिक प्रकाश डालनेवाले विशिष्ट ग्रंथों का प्रणयन हुआ। रत्नों का प्रचार सार्वदेशिक था। अतः सभी ने अपने-अपने अनुभव और प्रचलित परीक्षण-परंपरा को लिपिबद्ध किया। इस प्रकार विभिन्न रूपों में फैली भारतीय परंपरा जीवित रह सकी। ऐसे प्रयत्न राष्ट्रभारती में भी हुए हैं। कवि श्री जान (पाहन-परीक्षा, र० का० १६९१ वि०), रत्नशेखर ('रत्नपरीक्षा', सं० १७६?), तत्वकुमार[५] ('रत्न-परीक्षा', सं० १८४५), रामचंद्र[६] ('रत्नपरीक्षा') और कृष्णदासादि की परीक्षाएँ

२—वही, पृ० २८६

३—विशाल भारत (अप्रैल, जून १९४७), 'ठक्कर फेरु और उनके ग्रंथ'।

४—ठक्कुर फेरू की 'रयण परिक्खा' एक प्रकार से अलाउद्दीन खिलजी के रत्नागार की सूची है। स्वपुत्र हेमपाल के ज्ञानवृद्ध्यर्थ इसका प्रणयन हुआ था—

तेणिह रयणपरिक्खा विहिया निय तणय हेमपाल कए।
कर मुणिगुणससिवरसे अल्लावदी विजय रज्जंमि ॥

५—श्री आसकर्ण चंडालिया के लिये रची गई।

६—श्री धारिमल्ल के लिये रची गई। तीनों ग्रंथ इन पंक्तियों के लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं।

तो प्रसिद्ध ही हैं, पर कई ऐसी कृतियाँ और सूचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें रचयिताओं ने अपना नामोल्लेख ही नहीं किया। ऐसे ग्रंथ प्रायः परिस्थिति-जन्य आवश्यकता के परिणाम हैं, क्योंकि अधिकतर ग्रंथ व्यवसायी वर्ग की रुचि के वशीभूत होकर ही लिखे गए हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ का विषय-विवरण

'जौहरिन तरंग' नाम लेखक ने पर्याप्त चिंतन के अनंतर रखा है। नाम लगता तो है अटपटा, पर है सर्वथा सार्थक और उचित। सचमुच यह जौहरिन की तरंग (मन की मौज) ही है। प्रश्न हो सकता है कि 'जौहरी तरंग' नाम भी तो रखा जा सकता था। पर इस नाम में लेखक की धार्मिक या भक्तिपरक भावना का समुचित प्रदर्शन न होता। वास्तविक बात यह है कि ग्रंथ के आदि भाग से स्पष्ट है कि लेखक वल्लभ-संप्रदाय का परम अनुरागी ही नहीं, अनन्य उपासक है। सर्वप्रथम लेखक ने विघ्नविनाशी गणेश जी की स्तुति की है। तदनंतर अपने इष्टदेव भगवान् श्री कृष्णचंद्र जी के चारु चरित का हृदयग्राही वर्णन करते हुए वह स्वगुरु श्री गोकुलनाथ के काल में कौतुक करने का उल्लेख इन शब्दों में करता है--

गोकुलनाथ गुरू गुनसागर कृस्नचंद्र अविनासी।
कीने कल कौतिक महि तन धर अत अरूप लल रासी ॥

अपने इष्टदेव के प्रति लेखक की इतनी गहरी आस्था और श्रद्धा है और उनके सम्मुख वह अपने आपको इतना नगण्य समझता है कि अपने मुख से कुछ भी न कहकर वह सब कुछ भगवान् के श्रीमुख से कहलवाता है। भक्तिमूलक भावना को व्यक्त करने का यह अनूठा प्रयास है।

कथा इस प्रकार प्रारंभ होती है कि एक बार भगवान् कृष्णचंद्र ने अपने मित्रों से निवेदन किया कि राधा जी से मिले बहुत दिन हुए, अब की बार युवती जौहरिन का रूप बनाकर जाने का विचार है। तदनुसार मित्रों ने सारा सामान एकत्र किया, जिसका कवि ने बहुत ही हृदयग्राही वर्णन किया है। इसमें नारी-जीवन का शृंगार सजीव हो उठा है। यहाँ लेखक ने तात्कालिक व्रज में प्रचलित वस्त्राभूषणों का अच्छा परिचय करा दिया है। इस प्रकार भगवान् पूरे ठाट से चौदह रत्न सजाकर राधा के पास जाते हैं और औपचारिक वार्तानंतर रत्नों का परिचय देते हैं। मूल ग्रंथ में वैदूर्य के वर्णन में नारी-संबोधनात्मक एक उदाहरण इस रूप में विद्यमान है—

तिनिके रंग सुभाव सुहाए सुनिये कुंवर किसोरी ।

२६४ पद्यों तक तो विषय का वर्णन चलता है, फिर उसके समाप्त होने पर जौहरिन का रूप प्रगट हो जाता है । यहाँ कवि भगवान् की लीला से गद्‌गद हो गया है । आनंदकंद की यही लीला 'जौहरिन तरंग' में तरंगित हो उठी है ।

'जौहरी' शब्द मुगलों की देन है । इससे पहले मणिकार, मणिस्तर, परीक्षक आदि शब्द मिलते हैं । पश्चिम भारत की कुछ जातियाँ आज भी इनका मधुर स्मरण कराती हैं । जैसे पारीख, पारख (परीक्षक) आदि । ग्रंथ का आदिम भाग इस प्रकार है--

श्री गणेशाय नमः । श्री सरसुती परम गुरुभ्यो नमः ॥ अथ श्री नवलसिंह कृत जौहरिन तरंग ।

चौबोला

सिद्धरमन सिन्धुर मुष सुन्दर सुष मंदिर जस गाऊ ।
नवल अमल पद कमल जगल फल सुफल सुबुधि प्रद धऊ ।
सुरसर गुरवर इष्ट गिरा प्रत कर अनित बहोरी ।
वरनहू चार चरित सुच रुचिके करहू सुस्ट मत मोरी ॥ १ ॥
गोकुलनाथ गुरु गुनसागर कृस्नचन्द्र अविनासी ।
कीनें कल कौतिक महि तन धर अत अरूप लप रासी ।
ते सब व्यासादिक रिप वरने श्रूस्तुति माही ।
तिहि गाया नर कलमल छूटे भवसागर तर जाहीं ॥ २ ॥
लीला ललित लाडली मिल ज्यों लाल अलौकिक कीनौं ।
भाषत मधुर मनोहर गतिवत नवल सु अति रस भीनौ ।
इक दिन स्याम सुजान सपन प्रत बोल गोष मत कीनौ ।
सुनहु भिया आगे हम बहु विध भामिन दरसन लीनौं ॥ ३ ॥
श्री राधा जू के अवईछन की छन दरसन पावैं ।
इह लगन लगो उर अंतर सो कब जाय सिरावैं ।
अब के जुवति जौहरिन बन कर बरसाने फिर जेहें ।
सरस रूपवत् रस रस बरसत दरस लडेती लेहें ॥ ४ ॥
इम विचार श्री कृष्ण सवन सइ श्री मुष सासन भाषौ ।
ल्यावहु षसन अलंकृत मंजुल मंजु मंजु सन राषौ ।

इतनी सुनत सपद उठ धाये ल्याये सकल सुभागे ।
सो हर स्वकर रुचिर रुचि रुनिके सुवपु सम्हारन लागे ॥ ५ ॥

छियालीस चौबोलों तक तो कवि ने कृष्ण जी के जाने का वर्णन किया है, तदनंतर श्रीकृष्ण जी राधा के संमुख सर्वप्रथम हीरे का परिचय देते हुए उसके प्रकार, वर्ण, उत्पत्ति-स्थान, संस्कार, छाया, कोण, तोल, मोल आदि तथा गुणावगुण का सुंदर वर्णन करते हैं। सत्तासीवें चौबोले तक हीरे की तलस्पर्शी समीक्षा करते हुए प्रत्येक खान के हीरों की विशेषता, गुण-दोष और मूल्यांकन पर अनुभवमूलक विचार व्यक्त किए गए हैं। कितनी रत्ती तक के दोषयुक्त हीरे का कहाँ तक मूल्य होना चाहिए, आदि बातों का भी उल्लेख है। तदनंतर इतना ही विस्तृत वर्णन मुक्ता का इन शब्दों में किया गया है—

धन गज मच्छर वाज त्रिलै सप छीप संक वाराहा ।
मोती ऊपजै आठ ठौर नै कहत हैं श्रुत राहा ॥ ८८ ॥

× × ×

धन के उपज रहत अदफर हो भुररूप सम आही ।
विद्युल कैसी दमक दिप तन लसत न और दिपाई ।
छीवै कौ सुर सिद्ध जौ गहै अवगुन रचन भानौ ।
मृत्युलोक मह लसत न क्यौंहू नर सुदृर भजानौ ॥ ८९ ॥
गजराजन तैं गुलफत होत है मंद प्रभाव सुभैंहैं ।
कुंभन उपज कपोलन निकसैं आवलक सम रोहैं ।
मचरी गरंभ चिर मसे डीलन मुक्ताफलल लगावै ।
पाडरफल रंगिन रतिन कौ अल्प भाग नही पावै ॥ ९० ॥
पाताลाधिप सर्प जात मद मौती उपजत सामैं ।
ते दुर्लभ भवलोक नरन को दुरत द्रिष्ट नहीं दीगै ।
नीले वरन वरनियत छाया अत उजिल तन गोला ।
समिजुत सुभग सुहाये मचमें डील जितौ कंकोला ॥ ९१ ॥
वंस मौती पाय पुन्य सह इतनी पदवी पावै ।
राजश्री धन विभव विविध विध रत सतन घर आवै ।
देषत सिंध सुरासुर विस्फर कदली फल उरमाना ।
हरत रंग दीपत तिन तनकी वरपा उपल समाना ॥ ९२ ॥

× × ×

पंचजन्न संतान संख ते हरत ताप की आपा ।
मोती उपजत होत है जिनसे हर सुष परम प्रतापा ।
संध्या राग समान मान दुत पटका अंड समाने ।
तउपी लघु लघु सुद्ध मुद्धसुर मिन्नकाज परवाने ॥ ९४ ॥
दुरलभ टौर समुद्र मद्ध तहा सदा संचरत सोहे ।
हाथ नहीं आवत जहे जगत में अल्प पुन्न नर जो है ।
जंम आद वराह रूप के जे वराह चले आए ।
ते हीं है प्रमूत मोतिका की सुनन गुनन गुन गाए ॥ ९५ ॥
उपजत सीस सुरगंध गेल हो निकस परत यहू माने ।
कुल सूकर के मद्ध ओर की वराम को रन कीने ।

× × ×

प्रथम थान सिंघल भल्ल प्रघट्यो दुतिय थान अरवाय ।
पारसिक पुन भई तीसरी चौथी वर्वर चाय ।

ग्रंथ में वर्णित सब मोतियों की अलग-अलग पहचान देने के साथ-साथ सीप देखते ही गुण-दोष जानने का विधान भी दिया है। नौ जातियों में से पारस का मोती सर्वश्रेष्ठ होता है। सबसे बड़ा मोती बावन रत्ती का बताया गया है, जिसका मूल्य एक लाख सात हजार रुपए होता है। एक रत्ती ग्यारह चावल की मानी गई है।

ग्रंथकार ने ११५ और ११६ संख्यक चौबोलों में कृत्रिम मोती की परीक्षा का प्रकार इस तरह सूचित किया है--एक हाँड़ी में गोमूत्र और नमक भरकर रात को मोती उसमें डाल प्रातःकाल छान लें। यदि बनावटी मोती होगा तो विकृत हो जायगा, सच्चा होगा तो द्युति और बढ़ जायगी।[८] रामचंद्र की रत्नपरीक्षा में भी जाँच का यही प्रयोग है (पद्य ३८)।

८—इससे प्रमाणित होता है कि कृत्रिम मोती भी प्राचीन काल में बनते थे। अभी भोपाल से ग्वालियर आते समय मुझे बीनागंज एक रात ठहरना पड़ा था। पुराने ग्रंथों का पता लगाने पर एक गृहस्थ के यहाँ आयुर्वेद के कुछ गुटके निकल आए। उनमें कृत्रिम मोती के निर्माण का एक प्रयोग उल्लिखित था, जो इस प्रकार है—"मोती की सीप को घिसकर उज्वल कर लें। फिर उसे पीस, कपड़छान कर एक स्वच्छ कुलडे में डाल दे। उसमें नीबू का रस भर के हिलाएँ। फिर मुँह बंद कर चूल्हे के आगे दस अंगुल गडढा

आगे पद्मराग (इसकी दो सौ दस[8] जातियाँ वर्णित हैं), माणिक, इंद्रनील मणि[9] (इसके चार वर्ण और सोलह प्रकार हैं), मरकत, वैडूर्य[10], राजवंतक, पुष्पराग, स्वस्थ मनि, विजन मनि, नीलकंठ मनि, विस्न मनि, गउड मनि आदि मणियों का सामान्य[11] वृत्त दिया है। पद्य सं० २६४ से पुनः कथा का क्रम आ जाता है जो २८५ तक चलता है। आगे का भाग खंडित है।

लेखक और रचनाकाल

'तरंग' की अंतिम प्रशस्ति अप्राप्य है। प्राप्त भाग में लेखक ने अपना वैयक्तिक परिचय कहीं भी नहीं दिया, केवल गुरु के नाम (गोकुलनाथ) का उल्लेख किया है। परंतु ग्रंथकर्ता नवलसिंह निश्चय ही झाँसी-निवासी प्रसिद्ध कवि नवलसिंह कायस्थ हैं जो समथर-नरेश के आश्रित थे और जिनकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं तथा जिनका रचना-काल १८७३-१९२६ वि० है (रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास)। इनके अनेक ग्रंथों में 'जौहरिन तरंग' का भी नाम आया है, परंतु इसके विषय आदि का कहीं उल्लेख नहीं है। लेखक के जीवन तथा काव्य-कौशल आदि के संबंध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है।

कर गाड़ दे। इक्कीस दिन बाद निकालने पर मसाला कुछ गाढ़ा पड़ जायगा, उसमें से मोती प्रमाण गुटिका बना लें और छाया में सुखा दें। सुकुमार अवस्था में ही छिद्र भी कर लें। तदनंतर बड़े मत्स्य के पेट में गोलियाँ डाल दे। पेट सीकर बड़ी हाँड़ी में रख पानी भरकर चूल्हे पर चढ़ा दे। चार घड़ी तक पकाना चाहिए। स्वांग शीतल होने पर उसमें से दाने निकालने पर दीप्तिमान् मोती निकलेंगे।" इसी प्रकार कृत्रिम रत्नों के कई प्रयोग उपर्युक्त गुटकों में लिखे हैं।

८—पद्मराग की जाति जौहरिन दो सौ दस कीनी (१३२)।

९—इसकी सरल परीक्षा इस प्रकार बताई है—

"दूध मद्ध मन मेल देइ जौ नील रंग होय जाय"।

१०—इसे लहसुनिया भी कहते हैं। इसे धारण करने से वृश्चिक का विष नहीं चढ़ता—

भाषा नाम भनत लहसनिया जानत सब भव माही।

× × ×

बिच्छि कौ विष चढ़ै न नर को जो यही भूषित कीने।

११—इस वर्णन में शंकर-पार्वती की मणि-रत्न विषयक कथा दी है।

'जौहरिन तरंग' के अंतःपरीक्षण से ज्ञात होता है कि लेखक ने इस विषय के अन्य ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया था। साथ ही जान पड़ता है उसने जौह-रियों की मंडली[१२] में बैठकर भी अनुभव अर्जित किया था। राजाश्रय में रहते हुए राजकीय जौहरियों के सान्निध्य से लेखक को इसका विशेष सुयोग प्राप्त हुआ और जिस प्रकार फेरू, तत्वकुमार, कृष्णदास आदि ने रत्नपरीक्षाएँ लिखीं उसी प्रकार उसने अपने अध्ययन और अनुभव का उपयोग 'जौहरिन तरंग' की रचना में किया। ग्रंथ में कई स्थलों पर निर्णयात्मक मत व्यक्त करते समय लेखक ने अधीत ग्रंथ[१३] एवं मंडली का इस प्रकार उल्लेख किया है--

ताते देष ग्रंथ मत कौ विच उचित प्रकासत त्यौऊ।

× × ×

आठ भात समझौ रतनन कौ नाहि मंडली मानै।

× × ×

तहाँ मंडली लोगल कै आदर आसन दीजै।

कहीं-कहीं ऋषि-मुनियों की साक्षी भी दी है।

अब रहा प्रश्न लेखक के गुरु गोकुलनाथ का। इस नाम के दो विद्वान हिंदी साहित्य में विख्यात हैं--प्रथम गोसाईं गोकुलनाथ जी, जिनका समय सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध है और द्वितीय महाभारत के अनुवादक, जिनका समय उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध है। प्रथम गोकुलनाथ से लेखक का शायद ही तात्पर्य हो, क्योंकि वे लेखक से दो शती पूर्व हुए थे। उसका तात्पर्य द्वितीय गोकुलनाथ से ही हो सकता है। समय की दृष्टि से उन्हीं से लेखक का मेल बैठता है।

प्रस्तुत प्रति में लिपि दोष के कारण शब्दों की टूट और छूट इतनी अधिक है कि कवि की शब्द-रचना का स्वरूप स्फुट नहीं हो पाता पर वर्ण्य विषय प्रायः स्पष्ट हो जाता है और कवि की कल्पना की प्रशंसा करनी पड़ती है।

१२—रत्न-परीक्षकों की मंडली-परंपरा बहुत प्राचीन जान पड़ती है। मंडली का निर्णय सर्वमान्य होता था। ठक्कुर फेरू जैसे अनुभवी ग्रंथकार ने भी "तह बुद्धि मंडलीयं च", इस प्रकार मंडली का उल्लेख किया है।

१३—यद्यपि लेखक ने किसी कृति का स्पष्ट नाम नहीं लिया है, किंतु रामचंद्र कृत हिंदी 'रत्नपरीक्षा' के कई छंद और भाव कुछ परिवर्तन के साथ 'जौहरिन तरंग' में विद्य-मान हैं। संभव है लेखक के सम्मुख यह कृति रही हो।

ज्ञान एवं काव्य-रचना दोनों की दृष्टि से इस ग्रंथ का संपादन-प्रकाशन आवश्यक है। इसकी पूर्ण प्रति* का पता यदि कोई पाठक देने की कृपा करें तो लेखक आभारी होगा। यद्यपि राजा-महाराजाओं की समाप्ति के कारण संप्रति रत्नों का व्यवसाय नहीं-सा रह गया है तथापि ज्ञान की इस शाखा की रक्षा के लिये सभी प्राप्त प्राचीन रत्नपरीक्षाओं के आधार पर एक अद्यतन ग्रंथ भी प्रस्तुत होना अत्यंत वांछनीय है।

---

* नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विवरण (६-७६ एच) में 'जौहरिन तरंग' की एक प्रति का विवरण इस पते के साथ दिया गया है—गदाधर चौकर्सी, समथर स्टेट। उक्त विवरण में नवलसिंह के १७ ग्रंथ उल्लिखित हैं। वे सभी झाँसी, समथर, दतिया वा टीकमगढ़ में प्राप्त हुए थे। इन स्थानों में खोज करने पर पूर्ण प्रति का प्राप्त होना बहुत संभव है। विवरण में लिखित प्रति पूर्ण थी और उसका अंतिम अंश उसमें दिया है। उससे पता चलता है कि ग्रंथ २९९ छंदों में पूर्ण हुआ है। अंत में रचना की समाप्ति का काल बुधवार, आषाढ़ शुक्ल ५, सं० १८७५ तथा लिपिकाल बुधवार, भादों बदी १३, सं० १८७६ दिया है।

कवि के कई ग्रंथों की प्रशस्तियों में उसे 'श्रीवास्तव्य कायस्थ' तथा 'श्रीवैष्णव संप्रदाय परायन' लिखा है और उसका पूरा नाम दिया है 'श्री सरन रामानुजदासाभिधेय प्रधान नवलसिंह'। इसके साथ ही 'श्रीमते रामानुजायनमः' भी लिखा मिलता है (खोज-विवरण, ६-७६ ए, आई, जे)। इन स्पष्ट उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए इस अनुमान की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि 'जौहरिन तरंग' का रचयिता 'वल्लभ-संप्रदाय का परम अनुरागी, अनन्य उपासक था और श्रीकृष्ण उसके इष्टदेव थे'। खोज विवरण में कवि के केवल आदिम तथा अंतिम अंश दिए गए हैं। जब तक उसके अन्य ग्रंथ भी पूर्ण रूप में उपलब्ध न हों तब तक उसके जीवन वा रचना-शक्ति के संबंध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। अतः अन्य ग्रंथों को भी पूर्ण रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए।

—संपादक

विमर्श

क्या राजवल्लभ कृत पद्मावतीचरित्र और जायसी के पद्मावत की कहानी एक ही है ?

पिछले पचास वर्षों में नवीन परिस्थितियों के प्रादुर्भाव एवं मुद्रण संबंधी सुविधाओं की सुलभता के फलस्वरूप हिंदी साहित्य का विकास सभी दिशाओं में अपूर्व वेग के साथ हुआ है। इस काल में खड़ी बोली के विकास के साथ-साथ विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों एवं साहित्य-रूपों का भी विकास हुआ। साहित्य के कई इतिहास भी लिखे गए तथा आलोचना विषयक ग्रंथ प्रस्तुत किए गए। विश्व-विद्यालयों में इन सब विषयों पर अनुसंधान भी प्रतिवर्ष अनल्प मात्रा में हो रहा है जिसके फलस्वरूप बहुत सी नई अध्ययनपूर्ण विवेचनात्मक जानकारी प्राप्त हो रही है।

हिंदी साहित्य के उत्कर्ष की दृष्टि से जहाँ यह सब अत्यंत हर्ष और गौरव का विषय है वहाँ यह देखकर चिंता भी होती है कि प्रायः लेखकों की असावधानी अथवा सामग्री-प्राप्ति की कठिनाई आदि कारणों से न केवल पुरानी भूलें दुहराई जा रही हैं अपितु नवीन भ्रांतियाँ भी उपस्थित हो रही हैं। इसमें संदेह नहीं कि किसी विषय की संपूर्ण सामग्री प्राप्त करना प्रायः कठिन ही नहीं, असंभव भी होता है, परंतु आवश्यक और उचित यह है कि कम से कम उपलब्ध सामग्री का तो अध्ययन बहुत सावधानी के साथ किया जाय और अनुपलब्ध के संबंध में केवल अन्य के उल्लेखों के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालने के पहले पूर्ण छानबीन कर ली जाय।

पिछले पंद्रह वर्षों में शोध के प्रसंग में हिंदी साहित्य के इतिहास संबंधी अनेक भूलें प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में आईं, जिनका निराकरण उसने नई खोजों के आधार पर अपने कतिपय लेखों में किया (द्रष्टव्य वीरगाथा काल के ग्रंथों के संबंध मेंनागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७ अंक ३ तथा 'मिश्रबंधुविनोद' के संबंध में ना० प्र० प० वर्ष ५४ अंक १)। कुछ वर्ष पूर्व उसने डा० रामकुमार वर्मा के अनुरोध पर उनके 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के कतिपय

संशोधनीय स्थलों की सूचना उन्हें दी थी, किंतु किसी कारण उसका उपयोग न हो सका जिससे उस ग्रंथ के नए संस्करण में भी वे स्थल ज्यों के त्यों रह गए हैं। परंतु जहाँ तक प्रस्तुत लेखक का संबंध है, उसे जहाँ कहीं ऐसे स्थलों का पता चले, उनका निर्देश कर देना वह अपना कर्तव्य समझता है।

अभी हाल में डा० कमल कुलश्रेष्ठ का 'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इस लेख में उनके इस ग्रंथ की अन्य बातों की आलोचना न कर केवल जिस सामग्री की प्राप्ति वा जानकारी न होने से उन्हें कुछ भ्रांतियाँ हुई हैं उसी की ओर ध्यान आकर्षित करने का यत्न किया जायगा।

'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य' के पृष्ठ १९६ पर लिखा है —"यह निश्चित है कि पाठक राजवल्लभ के 'पद्मावती-चरित्र' में पद्मावती-रत्नसेन की कथा है"। परंतु वास्तविक तथ्य यह है कि राजवल्लभ के पद्मावती-चरित्र की कथा रत्नसेन पद्मावती की नहीं, प्रत्युत चित्रसेन-पद्मावती की है और जायसी के पद्मावत से वह सर्वथा भिन्न है। डा० कुलश्रेष्ठ का इस संबंध में वक्तव्य इस प्रकार है—

"हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य में पद्मावती का कथानक मौलिक नहीं है। जायसी के पहले पाठक राजवल्लभ ने १४६७ ईस्वी में इसे संस्कृत में लिखा था। प्रस्तुत लेखक इस ग्रंथ को प्राप्त न कर सका, पर उसकी जो भी रूपरेखा उसे मिली है उससे यह निश्चित है कि पाठक राजवल्लभ कृत पद्मावती-चरित्र में पद्मावती-रत्नसेन की प्रेम-कथा है। संभव है जायसी ने पद्मावती का कथानक पाठक राजवल्लभ से न लिया हो, परंतु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्मावती की कहानी मौलिक नहीं है और उसका स्रोत भारतीय ही है।"

डा० कुलश्रेष्ठ को जो रूपरेखा मिली उसके आधार के निर्देश के रूप में उन्होंने टिप्पणी में (१) ग्यूरिनाट, एसाइ दे बिब्लियोग्राफी जैन (१९०६), (२) जिन रत्नकोश, (३) पीटर्सन, ए थर्ड रिपोर्ट ऑव ऑपरेशन्स इन सर्च ऑव संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन बांबे सर्किल—इन तीन ग्रंथों का उल्लेख किया है। इनमें से पहला ग्रंथ तो मेरे पास नहीं है, पर दूसरे में कथा चित्रसेन-पद्मावती की होने का निर्देश होने के साथ-साथ इसके हीरालाल हंसराज (जामनगर) द्वारा सन् १९२४ में प्रकाशित होने का भी उल्लेख है। तीसरे ग्रंथ में तो "इसमें चित्रसेन-पद्मावती-चरित्र का उल्लेख है", यह स्वयं उन्होंने टिप्पणी में सूचित किया है। फिर भी पता नहीं कैसे चित्रसेन और रत्नसेन को एक मानकर यह लिख दिया कि

इसमें जायसी कृत रत्नसेन-पद्मावती की कथा है। पद्मावती के नाम से तो अनेक सती स्त्रियाँ हो गई हैं, अतः उनके पति के नाम से ही उनकी भिन्नता की सूचना मिलती है। यहाँ चित्रसेन नाम स्पष्ट ही है। तब जब तक कथा से यह न ज्ञात हो जाय कि रत्नसेन का ही नाम चित्रसेन है तब तक कोई निर्णय कर लेना उचित नहीं प्रतीत होता। राजवल्लभ का ग्रंथ प्रकाशित है, अतः थोड़ा प्रयत्न करने से वह प्राप्त हो सकता था।

जैन ग्रंथों में भिन्न-भिन्न पद्मावतियों के चरित्र मिलते हैं। यथा (१) भगवान् महावीर के मामा वैशाली गणराज्य के महाराज चेटक की पुत्री पद्मावती—यह चंपा के राजा दधिवाहन को ब्याही थी और चार प्रत्येकबुद्धों में से प्रथम प्रत्येक-बुद्ध करकंडु की माता थी। यह जैन समाज में सोलह सतियों में से एक मानी जाती है। (२) मृगांककुमार-पद्मावती—इनके चरित्र का वर्णन करनेवाले दो स्वतंत्र राजस्थानी काव्य प्राप्त हैं। एक तो प्रीतिविमल-रचित सं० १६४८ का है और दूसरा खतरगच्छीय धर्मकीर्ति-रचित, जो इसके कुछ बाद का है और जिसकी एक प्रति हमारे संग्रह में है। (३) चित्रसेन-पद्मावती—इनका राजवल्लभ द्वारा ५११ संस्कृत श्लोकों में रचित चरित्र प्रकाशित हो चुका है। इसमें इसका आधार 'शील-तरंगिणी' ग्रंथ को बताया गया है, जो 'शीलोपदेश माला' की टीका है और सं० १३९४ में रुद्रपल्ली गच्छ के सोमतिलक सूरि द्वारा रचित है। जिन रत्नकोश में हेमचंद्र, रत्नशेखर, बुद्धिविजय, शीलविजय तथा कल्याणचंद्र द्वारा रचित चित्रसेन-पद्मावती के चरित्रों का उल्लेख है। अर्थात् यह कथा जैन साहित्य में बहुत प्रसिद्ध रही है। इस विषय के राजस्थानी भाषा के भी छः काव्य मिलते हैं।

खोज करने पर इसी प्रकार और भी कई पद्मावतियों का पता चल सकता है। केवल पद्मावती नाम के साम्य से ही इन सबको एक मान लेना भ्रांतिपूर्ण होगा। पद्मावती की भाँति मृगावती भी दो तीन हैं और हिंदी साहित्य में जो मृगावती की कथा प्रसिद्ध है उससे जैन साहित्य का मृगावती-चरित्र सर्वथा भिन्न है। यहाँ राजवल्लभ कृत ग्रंथ से उनकी पद्मावती-कथा का सार दिया जाता है जिससे पाठक सहज ही समझ सकेंगे कि वह कथा रत्नसेन-पद्मावती की कथा से कितनी भिन्न है—

कलिंग देश के वसंतपुर के राजा वीरसेन को रानी रत्नमाला से चित्रसेन नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा के मंत्री बुद्धिसार के भी रत्नसार नामक पुत्र था। इन दोनों में

परस्पर गाढ़ मैत्री थी। कुमार चित्रसेन के अतिशय रूपवान् होने के कारण जब वह क्रीड़ा के लिये बाहर निकलता तो नगर की स्त्रियों के झुंड उसे देखने के लिये उमड़ पड़ते। कुमार के रूप के पीछे पागल सी होकर वे अपने घर का कामकाज छोड़ देतीं। इससे प्रजाजन को बड़ी असुविधा होने लगी। एक दिन नगर के कुछ मुख्य नागरिकों ने राजा के पास आकर इसकी शिकायत की। राजा ने प्रजा के कष्ट का निवारण करना अपना कर्तव्य समझ कुमार को नगर-निष्कासन की आज्ञा दे दी। कुमार देशाटन के लिये जाते हुए मंत्री-पुत्र से मिला तो वह भी उसके साथ हो गया। चलते-चलते दोनों एक अटवी में पहुँचे। रात हो जाने से कुमार एक वटवृक्ष के नीचे सो गया और मित्र रत्नसार बैठकर पहरा देने लगा। कुछ समय बाद वहाँ सुमधुर गीत-ध्वनि सुनाई पड़ी। उसे सुनने के लिये रत्नसार ने चित्रसेन को जगाया। दोनों मित्र जहाँ से ध्वनि आ रही थी, वहीं जा पहुँचे। वहाँ भगवान् ऋषभदेव का मंदिर था और अष्टाह्निका महोत्सव के उपलक्ष में किन्नरियाँ गा रही थीं। ये जाकर एक कोने में बैठ गए और गान का आनंद लूटते रहे। किन्नरियों के चले जाने पर वे मंदिर की पुतलियों आदि को ध्यानपूर्वक देखने लगे। कुमार की दृष्टि एक सुंदर पुत्तलिका पर पड़ी और उसके रूप पर वह मुग्ध हो गया। उसने रत्नसार से कहा कि यह पुत्तलिका किसी रूपवती कन्या की प्रतिमूर्ति सी लगती है। उस कन्या का पता लगाकर उससे मेरा विवाह करा दो, अन्यथा मैं उसके विरह में जी नहीं सकूँगा। रत्नसार ने उसे बहुत समझाया बुझाया परंतु बिना उस कन्या का पता लगे वह वहाँ से आगे चलने को तैयार नहीं हुआ। इससे रत्नसार बड़े असमंजस में पड़ गया। सुयोग से एक विशिष्ट ज्ञानी मुनि वहाँ आ पहुँचे। उनसे इन्होंने इस कठिन समस्या का उपाय पूछा, तब उन्होंने अपने ज्ञानबल से बताया कि पद्मपुर के राजा पद्मरथ और रानी पद्मश्री की पुत्री पद्मावती की यह मूर्ति सागर नामक सूत्रधार ने बनाई है। वह कन्या पुरुष-द्वेषिणी होने के कारण अभी तक कुमारी है। रत्नसार ने उसके पुरुष-द्वेषिणी होने का कारण तथा उस द्वेष के दूर होने का उपाय पूछा। तब मुनि ने बतलाया कि चित्रसेन और पद्मावती हंस-हंसिनी थे। एक समय वन में आग लगने पर हंस पानी लेने गया और हंसिनी बच्चों के साथ नीड़ में रही। पानी दूर होने के कारण हंस को लौटने में देर हुई तो हंसिनी को संदेह हुआ कि हंस दावानल के भय से उसे छोड़कर भाग गया। पुरुष के प्रेम पर उसे अविश्वास हो गया और पुरुष जाति से द्वेष रखती हुई वह बच्चों सहित दावानल में जल मरी। इतने ही में हंस आ पहुँचा और वह दृश्य देख विलाप करता हुआ स्वयं भी जल मरा। हंसिनी मरकर पद्मावती हुई और हंस यह चित्रसेन है। पूर्व स्नेह-संबंध के कारण ही पद्मावती की प्रतिमूर्ति को देखकर इसे अनुराग उत्पन्न हुआ है।

पद्मावती के पुरुष-द्वेष-निवारण का उपाय बताते हुए मुनि ने कहा कि हंस-हंसिनी के प्रेम का परिचायक एवं हंसिनी के लिये हंस के जल मरने का सूचक एक चित्र बनवा कर उसकी इस प्रकार की प्रसिद्धि की जाय कि कुमारी उसे देखने को उत्सुक हो। जब वह उस चित्र को देखेगी तो पूर्व जन्म का स्मरण कर उसकी मिथ्या कल्पना दूर हो जायगी और पुरुष के प्रति उसे अनुराग होगा। रत्नसार ने पद्मावती के पिता के नगर में जाकर वैसा ही किया। चित्र इतना सुंदर बना कि जब सखियों के द्वारा उसका समाचार राजकुमारी को मिला तो उसने उत्सुक होकर उसे देखने को मँगवाया। चित्र को ध्यान से देखने पर उसे सारी घटना याद हो आई और वह यह जानने के लिये व्यग्र हो उठी कि उसका प्रेमी हंस कहाँ उत्पन्न हुआ है। अंत में जब रत्नसार से उसे सच्चा हाल मालूम हुआ तो वह चित्रसेन से मिलने के लिये व्याकुल हुई। यथासमय दोनों मिले और परस्पर अनुराग बढ़ा। पद्मावती के पिता ने जब उसका पुरुष-द्वेष दूर होने की बात जानी तब उसने स्वयंवर रचा और पद्मावती ने चित्रसेन के गले में वरमाला डाल दी। दोनों का विवाह बड़ी धूमधाम से हुआ और वे आनंद से रहने लगे।

कुछ दिनों बाद चित्रसेन ने अधिक दिन ससुराल में रहना उचित न जान रत्नसार से घर चलने की इच्छा प्रकट की। मित्र ने जब पद्मरथ को इसकी सूचना दी तो उसने अच्छा दिन देखकर उन्हें पद्मावती के साथ विदा कर दिया। वहाँ से चलकर मार्ग में उन्होंने एक वृक्ष के नीचे पड़ाव डाला। कुमार सो गया और रत्नसार पहरा देने लगा। उधर वृक्ष के ऊपर रहनेवाले यक्ष से यक्षिणी ने पूछा कि यह राजकुमार कौन है, कहाँ जा रहा है और क्या इसका मनोरथ सिद्ध होगा? यक्ष ने बताया कि यह वसंतपुर के राजा का पुत्र है। इसके नगर छोड़ने के बाद इसकी माता मर गई है और पिता ने दूसरा विवाह कर लिया है। विमाता जब इसके नगर में पहुँचने का समाचार सुनेगी तो इसको मारने के तीन उपाय करेगी। एक तो नगर-प्रवेश के पूर्व एक दुष्ट घोड़ा इसके चढ़ने के लिये भेजेगी जो इसे मार डालेगा। यदि उससे बच गया तो फिर नगरद्वार पर एक ऐसा यंत्र रहेगा जिससे इसके प्रवेश के समय द्वार ऊपर गिर पड़ेगा। यदि उससे भी बच गया तो विषमिश्रित भोजन देकर इसे मार डालेगी। इन तीनों से बचने पर इसे राज्य मिल जायगा, किंतु एक रात इसे काला साँप डँसने आएगा। उससे बच जाने पर फिर यह राज्य-सुख भोगेगा। यदि यह सुनकर कोई इसकी रक्षा करना चाहे तो गुप्त रूप से ही कर सकता है, कुमार के सामने प्रकट करने पर वह (प्रकट करनेवाला) पाषाणवत् हो जायगा।

रत्नसार ने सारी बातें सुनीं और कुमार की रक्षा के लिये तैयार हो गया। वहाँ से चलकर जब दोनों मित्र बसंतपुर के निकट पहुँचे तो रानी के गुप्तचरों ने वह दुष्ट घोड़ा कुमार के चढ़ने के लिये उपस्थित किया। पर रत्नसार ने पहले से वैसा ही घोड़ा तैयार रखा था, इससे वह विपत्ति टल गई। इसके बाद द्वार-प्रवेश के समय द्वार गिरने के ठीक पहले रत्नसार ने घोड़े को पीछे हटा दिया, इससे दूसरी विपत्ति भी टल गई। नगर में जाने पर बड़ा महोत्सव मनाया गया। विमाता ने भी स्नेह दिखाते हुए भोजन का निमंत्रण दिया। रत्नसार ने जो लड्डू परोसे जाने को थे उनका पहले से पता लगाकर वैसे ही लड्डू बनवा लिए थे। भोजन के पूर्व उसने कुमार के विषमिश्रित लड्डुओं से उनका परिवर्तन कर दिया। जब तीसरी बार भी कुमार बच गया तो राजा और विमाता को अपनी करनी पर पश्चात्ताप हुआ। मुनियों के धर्मोपदेश से उन्हें विरक्ति हो गई और चित्रसेन को राज्य दे उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की।

चित्रसेन और पद्मावती के दिन सुखपूर्वक बीतने लगे। किंतु रत्नसार चौथी बात की प्रतीक्षा में सचेत रहता था। राजा-रानी के सो जाने पर वह पलंग के पास पहरा देता। एक दिन यक्ष-सूचित काले सर्प को आया देख उसने उसे तत्काल खड्ग से मार डाला। संयोग से किसी प्रकार विषमिश्रित रक्त की बूँद पद्मावती की जाँघ पर जा पड़ी। रत्नसार ने उसे रानी के लिये हानिकर समझ अपने वस्त्र के अंचल से पोंछ डाला। पोंछते ही सहसा राजा चित्रसेन की आँख खुल गई और अपने विश्वस्त मित्र का हाथ उस प्रकार रानी के शरीर पर देख उसने विस्मय के साथ उसका कारण पूछा। रत्नसार क्या उत्तर दे? सत्य न कहे तो राजा का संदेह दृढ़ होगा और कहे तो स्वयं उसका पाषाणवत् बनना निश्चित था। पर तत्काल उसने अपना कर्तव्य निश्चित कर राजा से कहा कि यदि आपको मुझपर विश्वास हो तो यह प्रश्न मत करिए; क्योंकि बतलाने से मैं पाषाण हो जाऊँगा और फिर आपको पश्चात्ताप होगा। परंतु चित्रसेन ने न माना। अंत में रत्नसार को राजहठ और भावी की प्रबलता विवश होकर स्वीकार करनी पड़ी। यक्ष की बात से आरंभ करके उसने मारक घोड़े तक का वृत्तांत कह सुनाया। इससे उसका जानु तक का भाग जड़ हो गया। यह देखकर भी राजा आगे की बात कहने के लिये उससे आग्रह करता ही रहा। दूसरे प्रयत्न की बात कहते ही रत्नसार कटि तक पाषाण हो गया। तीसरी बात कहने पर कंठ के नीचे तक का भाग और चौथी भी कह देने पर संपूर्ण पाषाण हो गया। अब राजा के होश ठिकाने आए। अपने सुयोग्य मित्र की अपनी ही भूल से यह दशा देख वह दुःख और पश्चात्ताप से ऐसा व्याकुल हुआ कि चिता में जलकर प्राण देने को तैयार हो गया। पद्मावती ने समझाया कि

इससे तो रत्नसार वापस मिलेगा नहीं, आपको सब चिंता छोड़कर उसे संज्ञा में लाने का उद्योग करना चाहिए। एक दानशाला खोल दीजिए जिससे स्थान-स्थान के सिद्ध-योगी यहाँ आएँगे। संभव है उनसे कोई उपाय हाथ लग जाय।

राजा को बात जँच गई और उसने वैसा ही किया, परंतु अंततः कोई फल न होने से वह निराश हो गया। अकस्मात् उसके मन में आया कि उस यक्ष से ही चलकर उपाय पूछना चाहिए। वह उस वटवृक्ष के नीचे पहुँचा और यक्ष का ध्यान कर बड़ी चिंता के साथ सो गया। मध्य रात्रि में वृक्ष पर यक्षिणी ने यक्ष से नीचे सोए हुए राजा के विषय में प्रश्न किया तो यक्ष ने सब कथा कह सुनाई और रत्नसार के स्वस्थ होने का उपाय यह बतलाया कि कोई विशुद्ध शील वाली सती स्त्री अपने नवजात पुत्र को गोद में ले उस पाषाण-मूर्ति का स्पर्श करे तो उसमें चेतना आ जायगी। राजा ने यह उपाय सुन लिया और प्रसन्न होकर लौट आया। पद्मावती आसन्नप्रसवा थी। कुछ दिन बाद उसे पुत्र हुआ और उसे गोद में लेकर उसने यक्ष की बताई विधि से रत्नसार का कर-स्पर्श किया। रत्नसार जी उठा और सर्वत्र आनंद मंगल छा गया। फिर सुख से दिन बीतने लगे। यथासमय पद्मावती के पुत्र को राज्य देकर तीनों ने जैन मुनि की दीक्षा स्वीकार की और मुनि-धर्म का पालन करते हुए स्वर्ग प्राप्त किया।

इस कथा से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि जायसी के पद्मावत की कहानी से इसका पद्मावती नाम के अतिरिक्त और कोई साम्य नहीं है। वस्तुतः यह कोई लोककथा ही प्रतीत होती है जिसे जैन विद्वानों ने शील का माहात्म्य प्रकट करने के लिये अपना लिया। उनके ऐसे सत्प्रयत्नों से सैकड़ों लोककथाएँ अमर हो गई हैं।

'हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य' के प्रसंग में यहाँ उसके विषय-प्रवेश में उल्लिखित कतिपय सूचनाओं के विषय में भी ज्ञातव्य प्रस्तुत कर देना उचित होगा—

(१) पृष्ठ ११—चंदाबन का रचनाकाल १४२७ वि० के निकट का लिखा है, पर उस ग्रंथ में उसके हि० सन् ७८१ में रचे जाने का स्पष्ट उल्लेख है, अतः अनुमान की आवश्यकता नहीं (द्रष्ट० ना० प्र० पत्रिका, ५४।१ में मिश्रबंधु-विनोद विषयक लेख)।

(२) पृष्ठ १३—रूपावती की प्रति के बीकानेर राज्य पुस्तकालय में होने की सूचना लेखक को मैंने दी थी, उसका निर्देश करते हुए लिखा है—"सरकारी सूचना

मिली कि वह वहाँ नहीं हैं।" यह सूचना ठीक नहीं है। उक्त पुस्तकालय के हिंदी विभाग में वह प्रति आज भी विद्यमान है।

(३) पृष्ठ १५– ढोलामारू रा दूहा का रचयिता हरराज लिखा गया है। वस्तुतः दूहे का कर्ता अज्ञात है। हाँ, ढोलामारू की चौपाई जैन कवि कुशललाभ द्वारा जैसलमेर के राजा हरराज के लिये लिखी गई थी। हरराज कर्ता नहीं है।

(४) पृष्ठ १६– मोहमर्द राजा की कथा आदि कई ग्रंथ जिन्हें प्रेमाख्यान बताया गया है, प्रेमाख्यान नहीं हैं।

(५) पृष्ठ १८—कुतुबशतक, चंदन-मलियागिरि और मदनशतक को डिंगल आख्यानों की सूची में रखा गया है, किंतु ये डिंगल नहीं, हिंदी के हैं।

(६) पृष्ठ २१—हेमरत्न-रचित पद्मावती चौपाई पिंगल में नहीं, राजस्थानी में है। रचनाकाल उसका अज्ञात लिखा है, किंतु उस ग्रंथ में रचनाकाल सं० १६४५ स्पष्ट लिखा है (विशेष द्रष्ट०, 'शोध पत्रिका', वर्ष ३ अंक ३ में मेरा लेख)।

(७) पृष्ठ २९– मृगावती को अप्राप्य लिखा है, पर इसकी प्रति अनूप संस्कृत पुस्तकालय में प्राप्त है। इसका परिचय 'राजस्थान भारती', वर्ष २ अंक २ में प्रकाशित हो चुका है।

ऐसी ही कुछ और सूचनाएँ भी हैं जिनका उल्लेख उनसे संबद्ध सामग्री को स्वयं न देख पाने तथा अन्य ग्रंथों के अनुसरण वा अनुमान के कारण भ्रमपूर्ण हुआ है। इस प्रकार की त्रुटियाँ साधारण कही जा सकती हैं, परंतु इनकी परंपरा भी, विशेषतः शोध-ग्रंथों में, आगे न बढ़ने देना ही उचित है।

—अगरचंद नाहटा

चयन

समानासु प्रथमा हिंदी

विशिष्ट भाषातत्त्वज्ञ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का उक्त लेख 'राष्ट्रभारती' के जुलाई १६५४ के अंक में प्रकाशित हुआ है, जो यहाँ अविकल रूप में उद्धृत है—

संख्या के विचार से हिंदी पृथ्वी की तीसरी भाषा है। उत्तरी चीनी और अंग्रेजी, इन दोनों के बाद ही हिंदी का स्थान है। हिंदी के पीछे हमें संख्या के अनुपात से इन भाषाओं को मानना पड़ेगा—रूसी, जर्मन, जापानी, हिस्पानी, बंगला और फ्रेंच। संस्कृति की दृष्टि से फ्रेंच भाषा की जो मर्यादा है वह आधुनिक जगत् में न रूसी की है, न चीनी की, न हिंदी की। पर हिंदी को संस्कृतवाहिनी आधुनिक भाषाओं में मुख्य बनाने की जिम्मेदारी हम भारतीयों की ही है, क्योंकि आधुनिक भारत की यह भाषा (हिंदी) अपनी संख्या और अपने खास वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभू-स्थानीय भाषा बनी है। इसे अपने बहुत प्रचार के कारण तथा सहजबोधता के कारण हम 'समानासु प्रथमा' मानते हैं।

हिंदी भारतीय जनता के कल्याण के लिये एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उत्तर भारत को छोड़ दीजिए द्रविड़भाषी दक्षिण भारत की आम जनता के कुछ लोग शहरों में अंग्रेजी बोल लेते हैं यह सच है, परंतु उत्तर भारत की आधुनिक भाषाओं में यदि कोई भी भाषा सबसे अधिक लोगों की समझ में आती है तो वह हिंदी ही है। निखिल-भारतीय जनों के लिये हमारे देश में जो तीर्थस्थान बने हैं ऐसे मंदिरों या क्षेत्रों—जैसे तिरुपति या बाला जी, मदुरा, श्रीरंगम, सेतुबंध रामेश्वर, कन्याकुमारी, तिरुवनंतपुरम्, मैसूर, श्रवण-बेलगोला, इत्यादि स्थानों में हिंदी बोलनेवाले पंडे, दुकानदार, व्यापारी, होटलवाले, पोस्ट-आफिसवाले आदि बहुत से मिलेंगे। भारत के दूसरे अनार्यभाषी लोगों में भी हिंदी का ही प्रचार दिखाई देता है। अपने देश से प्रेम करनेवाले जो भारतीय राष्ट्र को एक और अखंड मानते हैं, वे अवश्य स्वीकार करेंगे कि हमारी राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा व्यापारिक एकता के लिये हिंदी भाषा एक बड़े भारी कार्य का साधन है—यहाँ तक कि मैं इस खंड,

छिन्न और विक्षिप्त देश में तो संस्कृत के बाद हिंदी को ही ईश्वर के आशीर्वाद स्वरूप मानता हूँ।

हमारे इस विराट् विशाल देश में जो अपने आयतन में (विस्तार में) रूस को छोड़कर सारे यूरप खंड के समान है और जहाँ एक दर्जन से अधिक बड़ी बड़ी भाषाएँ प्रचलित हैं, और विरोधी मनोवृत्ति तथा भारत-विरोधी जनों के कथनानुसार जहाँ कई सौ भाषाएँ और उपभाषाएँ चालू हैं वहाँ हिंदी ही के द्वारा हमें भाषा-संकट से छुटकारा मिला है।

इंगलैंड और फ्रांस में केवल तीस मील की इंगलिश चैनल का व्यवधान डोवर और कैले बंदरगाहों का अंतर है; पर अंग्रेज जब इंगलैंड से फ्रांस आता है तब वह दुस्तर भाषा-संकट में पड़ जाता है! फिर कई मीलों के बाद पश्चिमी बेल्जियम में फ्लेमिश भाषा मिलती है और इधर जर्मनी, जहाँ की भाषा फ्रांसीसी से एकदम अलग है। जिसे अच्छी तरह से इन तीन चार भाषाओं का ज्ञान न हो उसके लिये यूरप की सैर में बड़ी दिक्कत होती है। पर भारत में—विशेषतः उत्तर भारत में—भाषा की चिंता हमें नहीं होती। कोई बंगाली बंबई आए, या कोई सिंधी गुजरात, महाराष्ट्र या असम तक जाय तो वह कभी भाषा के संबंध में सोचता ही नहीं। हम टूटी-फूटी हिंदी के सहारे कन्याकुमारी तक आसानी से अपना काम चला सकते हैं। अखिल-भारतीय राष्ट्रीय एकता का एक मुख्य प्रतीक हमारी हिंदी भाषा है। इस विचार को हमारे देश के लोगों ने निःशब्द भाव से मान लिया है कि जो केवल अपनी प्रांतीय भाषा ही जानता है वह प्रादेशिक और सीमित रह जाता है और जिसका हिंदी से परिचय है वह सचमुच निखिल-भारतीय बन जाता है।

हमारे राजनीतिक तथा सांस्कृतिक नेता, खास कर बंगाल के कुछ प्रख्यात बुद्धि-वैभवशाली नेताओं ने इस प्रश्न पर ध्यान दिया। उन्होंने हिंदी को निखिल-भारतीय ऐक्य-संगठन की दृष्टि से देखा और भारत के भावी युग के इतिहास में हिंदी के स्थान और हिंदी के द्वारा होनेवाली एकता बढ़ाने की संभावना पर दूर-दृष्टि से संपन्न भविष्यवादी की भाँति विचार किया। ई० सन् १८७५ में बंगाल में श्री केशवचंद्र सेन ने अपने बंगला अखबार में 'हिंदी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है' इस विषय पर निबंध लिखा। सन् १८७७ में बंकिमचंद्र द्वारा सुसंपादित 'बंगदर्शन' पत्रिका में राष्ट्रीय ऐक्य के क्षेत्र में हिंदी की उपयोगिता के विषय में एक अत्यंत उपयोगी लेख निकला था जो निश्चित रूप से स्वयं बंकिम बाबू द्वारा अनुमोदित था। गुजरात प्रांत से आए हुए महर्षि दयानंद

सरस्वती ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये अपनी अनमोल सेवा अर्पित कर इसी समय से श्रीगणेश कर दिया था; जिसमें पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान में बहुत काम हुआ। १८७२ में राजनारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुकर्जी ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र में बाँधने के लिये हिंदी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्वल वकालत की। सन् १९०५ में जब बंगाल में बंग-भंग के बाद स्वदेशी आंदोलन का आरंभ हुआ, जिसके साथ हमारे स्वाधीनता-संग्राम की नींव पड़ी, उस समय कुछ बंगाली नेताओं ने हिंदी के पक्ष में प्रबल प्रयत्न किया जिससे हिंदी के सहारे जनता में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये आकांक्षा फैलाई जाय। फिर १९२० में महात्मा गांधी राष्ट्र-संग्राम क्षेत्र में अवतीर्ण हुए और उन्होंने हिंदी को भारत के राष्ट्रीय और अंतःप्रादेशिक जीवन में तुरंत यथायोग्य स्थान दिया। कुछ काल तक हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी मामले के कारण देश में विपरीत आदर्श आ गया। बहुत से लोग विभ्रांत हो गए, पर अंत में यह आवर्त शांत हो गया और हिंदी अपने अधिकार से "समानासु प्रथमा" मानी गई।

भारत के दो तिहाई से अधिक लोगों में तो हिंदी किसी न किसी रूप में चालू है ही, पर समग्र भारतीय जनता के लिये भी हिंदी गृहीत होनेवाली है। अंतर्राष्ट्रीय राष्ट्रनीति के क्षेत्र में भारत का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसी के साथ-साथ भारत की राष्ट्रभाषा का महत्त्व भी बढ़ेगा। विश्व-राष्ट्रसंघ में इस समय संसार की जो प्रमुख भाषाएँ मानी गई हैं वे पाँच हैं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, हिस्पानी, रूसी और चीनी। हमारी राय में भाषाभाषियों की संख्या के हिसाब से इनमें हिंदी को भी स्थान मिलना चाहिए। हमारा विश्वास है, एक दिन वह मिलकर रहेगा। परंतु इस दायित्वपूर्ण परिस्थिति के लिये हमें तैयार होना चाहिए।

भारत में आर्य भाषा के इतिहास की पर्यालोचना करते हुए हम देखते हैं कि हिंदी कम से कम तीन हजार वर्षों की एक धारा—एक सिलसिले—के अंतर्गत आ रही है। हिंदी एक प्रवाह या परंपरागत वस्तु है, अचानक सामने आकर खड़ी हुई कोई नई चीज नहीं। हिंदी को अंतःप्रादेशिकता की मर्यादा मिली है—(१) संस्कृत; (२) प्राचीन शौरसेनी, जिसका एक साहित्यिक रूप है 'पालि'; (३) शौरसेनी प्राकृत; (४) शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसी का रूप-भेद नागर अपभ्रंश; (५) राजस्थान की 'पिंगल' भाषा तथा पुरानी ब्रजभाषा; (६) मध्यकालीन ब्रजभाषा, ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली मिश्र शैली; (७) दक्खिनी (दकनी); (८) दिल्ली की

खड़ी बोली; (९) आधुनिक नागरी हिंदी और उसका मुसलमानी रूप उर्दू, जिस उर्दू को अपनी स्वाभाविक गति मिलेगी—"सागरे मिलावत सागर लहरि समाना" शुद्ध हिंदी के सागर में इस मुसलमानी हिंदी यानी उर्दू की लहर मिल जायगी।

और एक बात ध्यान देने योग्य है। आज कल अंग्रेजी के विरोध में कहीं-कहीं जनमत तैयार करने की कोशिश हो रही है। हमारी राय में यह मत भ्रांत और आत्मघाती है। हम कभी अंग्रेजी से संबंध नहीं तोड़ सकते, क्योंकि हमारे आधुनिक सांस्कृतिक मंदिर के जीवन में बाहर से हवा और रोशनी आने के लिये अंग्रेजी एकमात्र वातायन-पथ बनी है। इसे कभी रुद्ध नहीं करना चाहिए। अपनी भारतीय जाति की कई-पीढ़ी-व्यापी अभिज्ञता के अनुसार सांस्कृतिक व्यापार के संबंध में, साहित्य-सर्जन के संबंध में, दृढ़-निश्चय होकर हम सलाह देते हैं कि हिंदी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को पुष्ट और सुसमृद्ध करना चाहो तो अच्छी तरह से अंग्रेजी भी सीखो। साधारण अंतर्राष्ट्रीय मान या विचार-बोध और आधुनिक जगत् के लिये उपयोगी विश्वमानवता अंग्रेजी के सिवा हमें कहाँ मिलेगी? हमारे मध्य युग के जो अनुभवी और भक्त कवि थे—जैसे कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, स्वामी हरिदास, हित हरिवंश, अष्टछाप के अन्य कवि, हरिराम व्यास, चाचा वृंदावनदास, दादूदयाल, मीराबाई, गुरु नानक, आनंदघन तथा हिंदी के दूसरे संत कवि लोग—उनकी बात छोड़ दीजिए, वे तो आध्यात्मिक-रस-पिपासु मानव के चित्त को पुलकित करते हुए सदा जीवित रहेंगे। पर आजकल की बात दूसरी है। क्या अंग्रेजी जाने बिना रवींद्रनाथ और गांधी जी अपने प्रभाव को दूरगामी बना सकते थे? अंग्रेजी भाषा अब केवल अकेले अंग्रेजों की संपत्ति नहीं, वह विश्व-सभ्यता की एकमात्र साधन, वाहन या माध्यम हो गई है और इस विश्व से हम बाहर नहीं हैं।

समग्र भारत के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय ऐक्य के लिये अहिंदीभाषियों के लिये जैसे हिंदी आवश्यक की जायगी वैसे ही हिंदीवालों के लिये भी उसके बदले में किसी एक प्रमुख भाषा को अपने सुभीते या रुचि के मुताबिक, चाहे वह मराठी हो, चाहे गुजराती, चाहे बंगला, चाहे तमिल-तेलुगु, चाहे उड़िया, चाहे कन्नड़, अवश्य पढ़नी पड़ेगी। भावग्राही होकर देश का सर्वांगीण कल्याण सोचकर सबको इस बात की युक्तिमत्ता पर ध्यान देना चाहिए।

●

निर्देश

हिंदी

कतिपय वर्णनात्मक राजस्थानी गद्य-ग्रंथ—अगरचंद नाहटा; राजस्थान भारती ३।३-४ [पृथ्वीचंद्रचरित्र या वाग्विलास, कुतूहलम्, सभाशृंगार, मुत्कलानुप्रास तथा दो अन्य पुस्तकों के सोद्धरण परिचय।]

कूर्पासक—चंद्रबली पांडे; राष्ट्रभारती, दिसंबर १९५३ ['कूर्पासक' शब्द के अर्थ की मीमांसा। डा० मोतीचंद तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा दिए गए अर्थों पर विचार करते हुए आर्य श्यामिलक और कालिदास से उद्धरण देकर कूर्पासक का अर्थ स्थिर किया गया है—स्तन-बाहुमूल को ढकनेवाला कसा हुआ एक पहनावा, चाहे वह स्त्री का हो या पुरुष का।]

खेड़ के प्राचीन मंदिर—रामकर्ण गुप्त, राजस्थान भारती, ३।३-४ [जोधपुर राज्य के बालोतरा स्टेशन से पाँच मील पश्चिम स्थित खेड़ नामक स्थान का प्राचीन इतिहास तथा वहाँ के प्राचीन मंदिरों की विशिष्ट शिल्पकला का सचित्र वर्णन। मंदिर में बनी अश्लील मूर्तियों को वज्रपातादि से रक्षा के निमित्त बताया है।]

चौदहवीं शती का राजस्थानी गद्य-ग्रंथ—अगरचंद नाहटा, राजस्थान भारती, ३।३-४ [बीकानेर के अभयसिंह भंडार में प्राप्त एक संग्रह ग्रंथ में संगृहीत जैन धर्म विषयक ग्रंथ 'तत्त्वविचार' को चौदहवीं शती का राजस्थानी गद्य-ग्रंथ बताया है और ग्रंथ से उद्धरण भी दिया है।]

जायसी ग्रंथावली का प्रामाणिक संस्करण—चंद्रबली पांडे; कल्पना, जुलाई १९५३ [हिंदुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित जायसी ग्रंथावली की इस लेख के लेखक द्वारा की गई आलोचना पर श्री गायत्रीप्रसाद शुक्ल द्वारा की गई आलोचना का लेखक द्वारा उत्तर।]

दिल्ली का तोमर राज्य—डा० दशरथ शर्मा; राज० भा०, ३।३-४ [साहित्यिक तथा ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर दिल्ली से तँवरों के संबंध का इतिहास। दिल्ली संग्रहालय स्थित १३२८ ई० के शिलालेख में उल्लेख कि हरियाना देश में तोमरों की बसाई दिल्ली पुरी है। खुसरो ने अपने से ५०० वर्ष पूर्व के दिल्ली के राजा अनंगपाल का उल्लेख किया है। परंपरानुसार सं० ७९२ में अनंगपाल ने दिल्ली बसाई। यह प्रथम अनंगपाल होगा जिसने वत्सराज प्रतिहार के समय में यह नगर बसाया। तोमर लोग प्रतिहार सम्राटों के सामंत थे। गजनी के सुलतानों से इन्होंने लोहा

लिया था। पर बारहवीं शती से इनकी नीति बदली और संभवतः उनसे मित्रता कर इन्होंने देश पर आक्रमण करने में उनकी सहायता की। चाहमानों ने पीछे इन्हें परास्त कर दिल्ली पर अधिकार किया।]

प्रबोध चंद्रोदय—डा० उमेश मिश्र, बि० रि० सो० पत्रिका, ३९।४ [श्री कृष्ण मिश्र रचित प्रबोध चंद्रोदय नाटक की शांत रस के नाटक के रूप में व्याख्या। नाटक की संक्षिप्त कथा। नाटककार का मिथिला से संबंध। नाटक का रचनाकाल। नाटक के आधार पर तत्कालीन धार्मिक संप्रदायों का विवरण।]

बारहमासा की प्राचीन परंपरा—अगरचंद नाहटा, हिंदी अनुशीलन, ६।४ [यह कथन गलत कि बारहमासा हिंदी की अपनी विशेषता है और अपभ्रंश से उसका संबंध नहीं है। जैन कवियों के बारहमासे तेरहवीं शताब्दी से बराबर मिलते हैं। सबसे प्राचीन धम्मसूरि कृत बारहनावउं है, जो लेख में उद्धृत है।]

बीकानेर की प्रागैतिहासिक खोज—डा० सत्यप्रकाश, राजस्थान भारती ३।३-४ [बीकानेर के उत्तर में सरस्वती और दृषद्वती (?) की घाटियों में खुदाई की गई है जिसके परिणामों से यह सिद्ध होता है कि यह प्रदेश प्रागैतिहासिक है। अभी बहुत थोड़ा कार्य हुआ है, फिर भी यहाँ एक सौ से अधिक नगरों का होना सिद्ध होता है। यहाँ हड़प्पा, सिलेटी पत्थर और रंगमहल संस्कृतियों का संगम था। ब्रह्मावर्त (उक्त दोनों नदियों के बीच का प्रदेश) में भी खुदाई होने पर अनेक समस्याओं का समाधान होगा। बलूचिस्तान से बीकानेर की पूर्वी सीमा तक ७०० मील लंबे क्षेत्र को प्रागैतिहासिक संस्कृति की जन्मभूमि कह सकते हैं।]

रामचरितमानस का रचनाक्रम—डा० माताप्रसाद गुप्त; हिंदी अनुशीलन, ६।४ [डा० बोदवील (फ्रेंच महिला) तथा डा० कामिल बुल्के ने रामचरितमानस के रचनाक्रम पर विचार किया है। लेखक ने अपने मतों की इन दोनों से तुलना करके बताया है कि कहाँ तीनों में साम्य है और कहाँ वैभिन्य।]

साल्व जनपद—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; राजस्थान भारती, ३।३-४ [गोपथ ब्राह्मण, पाणिनि, पतंजलि और महाभारत आदि के उद्धरणों से प्राचीन साल्व जनपद का स्थान आधुनिक बीकानेर अनुमानित किया गया है। साल्व ईरान से बलूचिस्तान और सिंध होकर भारत आए। सरस्वती की प्राचीन धारा के अनुकूल वे उत्तरी राजस्थान की ओर बढ़े। यहीं से वे पंजाब और यमुना तक धाड़े मारते थे। साल्व और उनसे संबद्ध अन्य छोटे छोटे जनपद राजाधीन थे।]

सूर-पदावली की सबसे प्राचीन प्रति—अगरचंद नाहटा; राज० भा०, ३।३-४ [जयपुर के पोथीखाने में सूर-पदावली की एक प्रति है जिसके परिचयपत्र के अनुसार वह सं० १६३९ की है। उसका विवरण अभी अप्राप्त।]

बंगला

कविकृति ओ समालोचना—श्री विमलचंद्र सिंह; विश्वभारती पत्रिका, माघ-चैत्र १३५९ बंगाब्द [कविकृति के तीन अंग--समाजतंत्र, भावतंत्र, रूपतंत्र। बाह्य उपकरण कवि की भावना से मिलकर काव्य का रूप धारण करते हैं। इन तीनों के संबंध का ठीक स्थापन काव्य में तब होता है जब प्रतिभा और श्रुत के साथ कवि के हृदय का बाह्य उपकरणों से पूरा मेल हो। 'प्रालितारियत' भी कविता का विषय है। कविता की अनेक परिभाषाएँ और कसौटियाँ हैं पर वे समय के साथ बदलती हैं। आज कविता में समाज की भावना सर्वोपरि है, वह ठीक है। पर रस आवश्यक है। 'पुत्रस्ते संजातः' वा 'धनं ते दास्यामि' आदि कथनों से आनंद संभव, पर वह काव्य नहीं है, उसमें रस नहीं है। वैसे ही "कुलीरा बस्तीते थाके' में प्रालितारियत भावना हो सकती है, पर उसके वर्णन में काव्यत्व—रसात्मकता--होनी चाहिए। यही समालोचना में देखना आवश्यक है।]

अंग्रेजी

अर्ली रूलर्स ऑव मेवार—एम० एल० माथुर; इं० हि० का०, २९।४, दि० १९५३ [ई० छठी शती में सूर्यवंशी राजा गुहिल ने ईदर, सिरोही आदि में राज्य स्थापित किया। गुहिलवंशी प्रभावशाली राजा शीलादित्य, हर्ष का समकालीन था। गुहिल की आठवीं पीढ़ी में कालभोज हुआ जो बापा के नाम से प्रसिद्ध है। इसका समय ई० आठवीं शती का उत्तरार्ध है। इसके समय में सिंध के अरब शासक जुनैद ने आक्रमण किया जिसका राजपूतों ने डटकर सामना किया था। बापा तथा नागभट्ट प्रतिहार ने अरबों को हराकर बाहर खदेड़ दिया। इसी समय से प्रतिहारों का उत्थान हुआ और बापा ने मोरियों से चित्तौर ले लिया।]

ऑन द वर्ड आत्मन्—लुई रेनाउ; वाक्, सं० २, सन् १९५२ [आत्मा शब्द के अर्थपर विचार।]

ए कल्चुरल वर्ड ऑव चाइनीज ओरिजिन—एस० महदी हसन; बंबई विश्वविद्यालय पत्रिका, २२।२, सितंबर १९५३ [ताऊन शब्द का मूल। 'ताऊन' (प्लेग)

अरबी शब्द माना जाता है, पर ताऊन का मूल स्थान मंगोलिया है और दक्षिण चीन की भाषा में उसे ता-वुन (गाँठ की बीमारी) कहते हैं। यहाँ से अरब यात्रियों द्वारा यह शब्द अरब पहुँचा और इसका रूप 'ताऊन' बन गया।]

ए नोट ऑन द वर्ड 'नग्निका'—एम. एम. पाटकर: वाक्, सं० ३, सन् १९५३ ['नग्निका' शब्द के अर्थ पर विचार कर निष्कर्ष निकाला है कि वैदिक काल में लड़कियों का ब्याह सयानी होने पर होता था और सूत्रकाल में भी पहले ऐसा ही होता था, किंतु पीछे ८-१२ वर्ष की अवस्था में उनका विवाह होने लगा, जब वे नग्न ही रहा करती थीं। इसी से उन्हें 'नग्निका' कहा गया।]

ए नोट ऑन 'पलस्थिका'—एच० सी० भायाणी: वाक्, सं० २, १९५२ ई० [पलस्थिका (हिं० 'पालथी') शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है और इसे 'पर्यस्तिका' से व्युत्पन्न बताया है।]

ए न्यूली डिस्कवर्ड वॉल्यूम ऑव अवधी वर्क्स—प्रो० एस० एच० अस्करी. बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, मार्च, जून १९५३ [मनेर शरीफ की खानकाह लायब्रेरी में लेखक को फारसी लिपि में लिखी हिंदी भाषा के कुछ ह० लि० ग्रंथों की एक जिल्द प्राप्त हुई जिसमें जायसी की पद्मावत और अखरावट तथा वह रचना भी है जिसे डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'महरी बाईसी' नाम दिया है। 'महरी बाईसी' अपूर्ण है। इस जिल्द में एक 'वियोगसागर' नाम की भी रचना है तथा कुछ अन्य अनाम अपूर्ण रचनाएँ बुरहान आदि की हैं। इस जिल्द में कई ऐसी पुस्तकें हैं जो अब तक अज्ञात थीं। वियोगसागर और अखरावट की पुष्पिका में शुक्रवार ८ जुलकद, ९११ हि० की तारीख दी है जो यदि मूल रचना की तारीख हो तो जायसी पर नया प्रकाश पड़ेगा। लेखक ने पद्मावत के कई स्थलों के पाठ की शुक्ल जी, गुप्त जी आदि के पाठों से तुलना कर उसे गुप्त जी के पाठ के अधिक समीप बताया है तथा महरी बाईसी के पाठ को गुप्त जी द्वारा गृहीत म० बा० के पाठ से उत्कृष्ट कहा है। पद्मावत की मूल लिपि को लेखक ने फारसी माना है।]

एजुकेशन फॉर वर्ल्ड सिटिजनशिप—जॉन सी० प्लॉट, विश्वभारती कार्टर्ली, १९१३ [विश्व-नागरिक बनने के लिये विश्व-नागरिकता की शिक्षा का महत्त्व तथा उसके प्रसार के लिये सुझाव।]

एन अप्रोच टु गांधी—जिसप तूची; ईस्ट ऐंड वेस्ट, (इटली) ४।३, [लेखक के विचार से वर्तमान विश्वव्यापी संकट नैतिक संकट है और गांधी जी

के आदर्शों का आधार नैतिक है, अतः उनके सिद्धांतों के अनुसरण से वह निस्संदेह दूर हो सकता है। सभी राष्ट्रों में यह प्रयत्न होना चाहिए कि उनके सिद्धांतों को लोग समझने और उनपर आचरण करने का प्रयत्न करें।]

एस्थेटिक हिडोनिज्म—डा० पी० एस० शास्त्री; भारतीय विद्या, जिल्द १४, ई० १९५३ [काव्यानंद को भौतिक अनुभूति मानकर उसकी व्याख्या करनेवाले पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के विविध मतों की समीक्षा करते हुए लेखक ने रस को अभिनवगुप्त की भाँति लोकोत्तर और चिद्रूप माना है।]

ऐक्शन्स ऐज़ हेल्प टु नॉलेज इन द अचीवमेंट ऑव लिबरेशन—डा० पी० एम० मोदी, भारतीय विद्या, जिल्द १४, १९५३ [बादरायण के ब्रह्मसूत्र ३।४ का नया अनुवचन। मोक्ष-प्राप्ति में कर्म की साधकता पर बादरायण का मत विवेचन के साथ प्रस्तुत किया गया है।]

कंकॉर्डेंस ऑव फॉना इन द रामायन—शिवदास चौधरी; इं० हि० क्वा०, भाग २९ सं० २, ३, ४ [पिछले अंकों से क्रमशः, शब्द संख्या १३०–१६८, १६९–१९२, १९३–२३० तक, वाल्मीकीय रामायण में आए हुए प्राणिनामों की सार्थ अनुक्रमणी।]

कंट्रीब्यूशन टु ए बुद्धिस्टिक बिब्लियोग्राफी—शिवदास चौधरी, ओ० इं० (बड़ोदा) पत्रिका, ३।१, [बुलेटिन ऑव द डेकन कालेज रि० इं०, इंडियन ऐंटिक्वेरी तथा पूना ओरिएंटलिस्ट—इन तीन पत्रिकाओं से बौद्ध धर्म एवं साहित्य के अध्ययन संबंधी लेखों की अनुक्रमणी।]

कश्मीर शैविज्म—डा० टी० एम० पी० महादेवन; भारतीय विद्या, जि० १३, १९५२ [कश्मीरी शैव मत—त्रिक, स्पंद या प्रत्यभिज्ञा—का उद्गम, उसके ३६ तत्त्व, आभास, मोक्ष, मोक्षोपाय आदि का विवरण देकर बताया गया है कि यह अद्वैत कहलाते हुए भी पूर्ण अद्वैत मत नहीं है, क्योंकि एक शिव को ही परमतत्त्व मानकर भी उसी को जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण माना गया है जो संभव नहीं। दार्शनिक दृष्टि से यह मत त्रुटिपूर्ण।]

कोश परिशिष्टानि—विलोरे पिशानी, वाक्, सं० २, १९५२ [बोटलिंक के संस्कृत कोश में न आए हुए या अपूर्ण अर्थवाले शब्दों की अर्थसहित सूची।]

क्लासिफिकेशन ऑव द नॉर्दर्नमोस्ट नाग लैंग्वेजेज़—राबर्ट शेफर, बि० रि० सो० पत्रिका, ३९।१, [धुर उत्तरी नागभाषाओं का वर्गीकरण। लेखक का

अनुमान कि तिब्बत-बर्मी लोग पूर्वी भारत में शासन करते थे और संभव है अंग, बंग और कलिंग नाम तिब्बत-बर्मी अङ्, वङ्, कलिङ् के ही संस्कारित रूप हों।]

डाक्टर याकोबीज़ इंट्रोडक्शन टु भविसयत्त कहा--एस० एन० घोषाल; ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बडोदा की पत्रिका २।४, ३।१ [भविसयत्त कहा की डा० याकोबी लिखित भूमिका का मूल जर्मन से अंग्रेजी में अनुवाद। पिछले अंक के पृ० २४८ से आगे क्रमशः।]

डेसिमल क्लासिफिकेशन फॉर ए लायब्रेरी ऑव ओरियंटल स्टडीज़--एलेन डेनिएलाउ, ब्रह्मविद्या, १८।१-२ [डिवी के दशमलव वर्गीकरण का पाश्चात्य पुस्तकालयों के लिये उपयोगी मानते हुए भी पूर्वीय साहित्य के लिये अनुपयुक्त बताया गया है और उसी के आधार पर अड्यार लायब्रेरी (मद्रास) का संशोधित वर्गीकरण प्रस्तुत कर पाठकों को आलोचना वा परामर्श के लिये आमंत्रित किया गया है।]

द जेनेसिस ऑव द बालकांड--डा० सी० बुल्के, एस० जे०, ओ० इं० (बडोदा) की पत्रिका, २।४ [लेखक के मत से वाल्मीकीय रामायण का बालकांड संपूर्ण क्षेपक है। ऐसा मानने के कारण दिए गए हैं।]

द ध्वनि इन संस्कृत पोएटिक्स--लुई रेनाउ, ब्रह्मविद्या, १८।१-२ [संस्कृत काव्य में ध्वनि सिद्धांत का संक्षिप्त परिचय देकर इसके भेदों की मनोवैज्ञानिक शुद्धता तथा आधुनिक युग के साहित्यिकों के लिये इस सिद्धांत की उपयोगिता बताई गई है।]

द मीनिंग ऑव गणपति- एलेन डेनिएलाउ, ब्रह्मविद्या, १८।१-२ [गणेश के नाम, उनकी एकरदन-गजवदन मूर्ति और उनकी पूजा का रहस्य मौद्गल पुराण, गणपति उपनिषद्, महाभारत आदि के प्रमाणों से बताया गया है।]

द युनिवर्सिटीज़ ऑव इंडिया—आलफ्रेड एस० शेंकमान; विश्वभारती कार्टर्ली १९।१ [भारत में प्रारंभ में विश्वविद्यालयों की स्थापना आदि का ऐतिहासिक विवरण देते हुए उनकी वर्तमान परीक्षा-पद्धति को अनुपयुक्त बताया गया है और विदेशी विश्वविद्यालयों से तुलना करते हुए यहाँ के विश्वविद्यालयों की मुख्य समस्याओं पर विचार किया गया है।]

द सेंटिमेंट ऑव लॉफ्टर इन संस्कृत पोएटिक्स—सतींद्रनाथ सेनगुप्त; वि० रि० सो० पत्रिका, ३९।४ [संस्कृत साहित्यशास्त्र में हास्य रस। भरत-वर्णित रस की अभिनवगुप्तादि-सम्मत दर्शनमूलक व्याख्या का स्पष्टीकरण। हास्य रस, उसके

विभावानुभाव तथा प्राचीनों की हास्य संबंधी रुचि आदि की व्याख्या एवं आधुनिक विचारों से तुलना।]

द स्टेचु ऑव सेंट पीटर डिस्कवर्ड ऐट चारसद्दा—मेरियो बुसाग्ली; ईस्ट एंड वेस्ट ४।४ [पश्चिम पाकिस्तान स्थित चारसद्दा स्थान में प्राप्त एक मूर्ति को ईसाई संत पीटर की रोम-स्थित मूर्ति की प्रतिकृति बताकर लेखक ने उसके भारत में लाए जाने का समय ई० पाँचवीं-छठी शती बताया है और अनुमान किया है कि उत्तर-पश्चिम भारत में उस समय जो ईसाई व्यापारी रहते थे उन्हीं के लिये उसे कोई ईसाई व्यापारी वहाँ ले गया था।]

द हेमवती लिजेंड इन द महोबा खंड—शिशिरकुमार मित्र, भारतीय विद्या, भाग १४, १९५३ [नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित परमाल रासो और बंगाल एशियाटिक सोसायटी में स्थित हस्तलिखित महोबा खंड में जो चंदेल वंश को गहड़-वालों के पुरोहित हेमराज की विधवा पुत्री से चंद्रमा द्वारा उत्पन्न चंद्र वर्मा की संतति बताया है उसकी समीक्षा। लेखक का मत कि चंद्र वर्मा अशुद्ध रक्त का था, उसे छिपाकर उसकी कीर्ति बढ़ाने के उद्देश्य से कहानियाँ गढ़ ली गईं।]

दि इंडियन मूवमेंट ऑव १८५७–५९—डा० कालीकिंकर दत्त; बि० रि० सो० पत्रिका ३९।४ [१८५७ के सिपाही-विद्रोह के संबंध में उस समय इंगलैंड के राजनीतिज्ञों और जनता की क्या मनोभावना थी इसका तत्कालीन सरकारी घोषणा और पत्रों के उद्धरणों से निदर्शन। ब्रिटेन में तो इस संकट से मुक्ति के लिये सामूहिक प्रार्थना-दिवस मनाया गया, पर न्यूयार्क के आयरिश लोगों ने अंग्रेजों के प्रति विरोध तथा विद्रोह के प्रति सहानुभूति प्रकट की थी। वारसा में रूसी लोग अंग्रेजों की विजय से प्रसन्न नहीं थे।]

दि ओरिजिन एंड ओरिजिनल होम ऑव दि इंपीरियल गुप्ताज—डा० दशरथ शर्मा, बि० रि० सो० पत्रिका ३९।३ [डा० डी० सी० गांगुली और डा० आर० सी० मजूमदार के इस मत पर कि गुप्त सम्राटों का आदि निवास बंगाल में था, डा० वी० पी० सिन्हा की आपत्ति का लेखक द्वारा समर्थन। लेखक के अनुसार इत्सिंग-वर्णित श्रीगुप्त गुप्त सम्राटों का आदि पुरुष नहीं भी हो सकता। पौराणिक शास्त्र भी गांगुली के विरुद्ध हैं।]

दि वैदिक गण एंड दि पोस्ट-वैदिक रिपब्लिक्स—रामशरण शर्मा; बि० रि० सो० पत्रिका, ३९।४ [जायसवाल जी का मत कि भारतीय गणतंत्र प्रारंभिक वेदयुग

तथा राजतंत्र के बाद अस्तित्व में आए। लेखक ने बताया है कि बाद के गण वैदिक गण के विकृत रूप थे। इनमें वर्गभेद था, गुलामी थी और राजतंत्र का आडंबर था। वास्तविक वर्गहीन गण तो वैदिक युग में ही थे। उनका कार्यक्षेत्र केवल राजनीतिक नहीं था। सैनिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक क्रिया कलाप भी उसके अंतर्गत थे।]

मंडलीक--एच० डी० वेलनकर, भारतीय विद्या, भाग १४, १९५३ ['मंडलीक नृप चरित' नामक सस्कृत हस्तलिखित ग्रंथ के आधार पर सौराष्ट्र के राजा मंडलीक का चरित। काव्य का संक्षेप में विवरण, फिर मंडलीक संबंधी ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन।]

मॉडर्न इंडियन फिलॉसफी--धीरेंद्रमोहन दत्त, भारतीय दर्शन परिषद् के मैसूर अधिवेशन (सन् १९५२) के सभापति श्री धीरेंद्रमोहन दत्त के महत्त्वपूर्ण अध्यक्षीय भाषण का संक्षेप।]

लिंग्विस्टिक प्रॉब्लेम इन इंडिया—संपादकीय; ओरियंटल इंस्टीट्यूट (बड़ोदा) पत्रिका २।४ [मई १९५३ में पूना विश्वविद्यालय में डा० पी० वी० काने के सभापतित्व में हुए भारतीय भाषा विकास सम्मेलन, तथा डेकन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इंस्टीट्यूट के तत्त्वाधान में भारत की चौदहों संविधान स्वीकृत भाषाओं के मौलिक शब्दकोश बनाने के लिये आयोजित भाषाविज्ञ सम्मेलन के महत्त्वपूर्ण निश्चयों की सूचना एवं समर्थन।]

वॉकेब्युलरी ऑव दि रामायन (२)--नीलमाधव सेन, वाक, सं० २ [वाल्मीकीय रामायण का शब्दकोश, मूल के उद्धरण सहित अर्थ।]

व्यवहार--जे० डी० एम० डेरेट; स्कूल ऑव ओरियंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज (लंदन) की पत्रिका, १५।३, १९५३ [शांति पर्व अध्याय १२१, श्लोक १४ (नीलोत्पलदलश्याम···) में भीष्म ने दंड का जो स्वरूप बताया है उसकी व्याख्याओं का डा० बेलवेकर ने अपने 'क्रिटिकल नोट' में उल्लेख किया है, जिसमें विमलबोध कृत दुर्घटार्थप्रकाशिनी में उल्लिखित भोजदेव कृत व्यवहारमंजरी में दी गई व्याख्या भी है, जो पूर्व व्याख्याओं से भिन्न है। लेखक ने 'व्यवहार विधान' नामक एक अप्रकाशित ग्रंथ से मिलान कर भोजदेव की व्याख्या का समर्थन किया है और उसे आधुनिक विधिज्ञों द्वारा भी अनुमत बताया है।]

समीक्षा

आधुनिक कवि पंत—लेखक श्री कृष्णकुमार सिन्हा, एम० ए०। प्रकाशक नावेल्टी एंड कंपनी, चौहट्टा, पटना ४। मू० ४)

प्रस्तुत पुस्तक ४०० पृष्ठों में आधुनिक कवि पंत का अध्ययन है। पंत जी का इस युग के अग्रगण्य कवियों में प्रमुख स्थान है। इनकी रचनाओं में आधुनिक युग की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। ये कभी रूढ़ियों में नहीं बँध पाए और जिस वाद या मार्ग के ये अन्वेषक या प्रवर्तक कहे जा सकते हैं उसे भी आवश्यकता पड़ने पर निस्संकोच त्याग कर इन्होंने उसी आसक्ति के साथ नया मार्ग अपनाया। इस प्रकार ये सदैव गतिशील रहे, भले ही इनकी गति और दिशा परस्पर विरोधी रही हो। हिंदी साहित्य को इनकी देन सदा आदर के साथ स्मरण की जायगी। परंतु उन्होंने जो रूढ़ियों और परंपराओं का तिरस्कार कर सदैव नवीन अनुभूतियों और सत्यों को अपने काव्य में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की उससे उनके काव्य की प्रखरता एवं सौंदर्य की सदैव वृद्धि ही हुई हो, ऐसा नहीं। काव्य में जब स्वाभाविकता और सहज उच्छ्वास की कमी हो जाती है तो उसका सबसे बड़ा गुण प्रेषणीयता भी क्रमशः क्षीण होने लगता है। पंत की परवर्ती कविताएँ केवल बाह्य परिधान की दृष्टि से ही काव्य कही जाती हैं, काव्यतत्त्वों का उनमें ह्रास ही हुआ है।

इस पुस्तक के लेखक श्री कृष्णकुमार जी श्रद्धावान् लेखक हैं। उन्होंने पंत जी के काव्य विकास के विविध सोपानों का विश्लेषण तो अवश्य किया है पर उसमें समीक्षात्मक मूल्यांकन नहीं है। कवि के मनस्तत्त्व के भीतरी और बाहरी उपादानों की चर्चा उन्होंने नहीं की है। वास्तव में साहित्यकार और कलाकार की कृतियाँ और तत्संबंधी उसकी दृष्टि केवल उसके व्यक्तित्व में अंतर्निहित किसी एकांत और निस्संग शक्ति का प्रतिफलन नहीं होती, आलोचक को यह भी देखना आवश्यक है कि किस प्रकार कवि की ग्राहिका अंतर्वृत्ति अपनी सहज संवेदनशीलता से अपनी बाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होकर सत्य और तथ्य का आकलन करती है जिससे कवि के व्यक्तित्व एवं उसकी कृतियों का रूप निर्धारित होता है।

लेखक ने लगे हाथ छायावाद, रहस्यवाद प्रगतिवाद तथा दो एक और वादों की चर्चा की है और इन विषयों पर उपलब्ध सभी सामग्री से लाभ उठाने की चेष्टा की है। परंतु प्रायः इन विषयों के सच्चे मान को वह ठीक तरह से समझ नहीं पाया है। 'ग्राम्या' की भावधारा का विश्लेषण करते हुए वह कुछ ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचता है—(ग) 'इसमें ग्रामीण जीवन का मार्मिक चित्रण हुआ है।' स्वयं पंत जी भी संभवतः इस प्रशस्ति को स्वीकार करने का साहस न करें। ऐसे अन्य निष्कर्ष भी हैं।

पंत जी की रचना में जो अंतर्विरोध और असंगतियाँ हैं उनकी सही व्याख्या तब तक नहीं हो सकती जब तक उनकी रचना और व्यक्तित्व निर्माण की सामाजिक पृष्ठभूमि को न समझा जाय। उदाहरणार्थ नारी के प्रति एक ओर तो उनका 'रोमांटिक' दृष्टिकोण है जिसमें वे नारी को विश्व और समष्टि की प्रेरक शक्ति के रूप में देखते हैं (मुस्करा दी थी क्यों तुम प्राण !' इत्यादि), फिर तथाकथित प्रगतिवादी कवि के रूप में वे नारी की भर्त्सना करने में पिछले संत और संन्यस्त कवियों को भी मात करते हैं ('यदि कहीं नरक है इस भूपर, तो वह भी नारी के अंदर' इत्यादि)।

पंत-काव्य में पाए जानेवाले अलंकारों की भी चर्चा लेखक ने की है। उसके साथ ही अंग्रेजी के भी समानार्थी अलंकारों के नाम दिए हैं। पर इसमें संदेह है कि वे इसी रूप में अंग्रेजी काव्यशास्त्र में माने जाते हैं। अंग्रेजी का यह मोह अनावश्यक, दोषपूर्ण एवं त्याज्य है। नए कवियों की रचनाओं में अलंकार आदि पुरानी रूढ़ शैली पर ढूँढ़ना नई कविता के साथ अन्याय है। शैली, अभिव्यंजना और प्रतिपादन में बिल्कुल नए मूल्य और नए लक्षण प्रयुक्त हो रहे हैं। उन्हें ढूँढ़ना और उनका स्वरूप स्थिर करना आलोचक का आवश्यक कर्तव्य है।

इस ग्रंथ का कलेवर काफी बड़ा है। उससे कोई शिकायत न होती, यदि शब्दों और पृष्ठों का उपयोग सार्थक ढंग से हुआ होगा। बहुत से विस्तार और विवरण अनावश्यक हैं। यथा, प्रकृति पर कवि का दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए सारे हिंदी साहित्य की चर्चा कर दी गई है। इसी प्रकार रहस्यवाद, छायावाद आदि की चर्चा करते हुए परिभाषाओं और उद्धरणों के संकलन में अत्यधिक उदारता दिखाई गई है। इस दृष्टि से यह पुस्तक विद्यार्थियों की जानकारी बढ़ाने के लिये अवश्य उपयोगी है, परंतु यह पंत-साहित्य के अध्ययन के लिये कोई विशेष देन नहीं।

चार के चार—लेखक श्री कमल जोशी, प्रकाशक शुभ्रा प्रकाशन, जमशेदपुर। मूल्य २॥)

यह पुस्तक कहानियों का संग्रह है। लेखक ने अपनी अधिकांश कहानियाँ मध्यम वर्ग के जीवन की घटनाओं के आधार पर लिखी हैं। अधिकांश कहानियों मे पुरुष और स्त्री के जीवन की सामान्य दुर्बलता का ही आकर्षक ढंग से चित्रण किया गया है। लेखक मे कहने की क्षमता है और उसे आकर्षक रूप से उपस्थित करने का ढंग भी। किंतु ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके पास कोई अपना जीवन दर्शन नहीं। अबाध उद्देश्यहीनता जैसे उसके व्यक्तित्व और विचार सभी पर छाई है और यही उसकी कहानियों में भी उतरी है। यदि साहित्य जीवन के नग्न और पतनशील यथार्थ को ही चित्रित करने में अपनी सार्थकता समझता है तो ये कहानियाँ कामुक जीवन की नग्न यथार्थता को चित्रित करने मे सफल मानी जा सकती हैं। ऐसा नहीं कि इन कहानियों में अनेक प्रकार के नग्न चित्रण हुए हों जिनपर कामुकता या उत्तेजनशीलता का आरोप लगाया जाय, प्रत्युत इन कहानियों के निष्कर्ष उनकी दिशा में पतनशील है। स्त्री और पुरुष अपनी वासनाओं और उनकी माँगों के साथ संघर्ष करते हुए नहीं दिखलाई पड़ते, वे बिना विरोध के चुपचाप आत्मसमर्पण कर देते हैं। कई कहानियों में तो आत्महत्या और हत्या के द्वारा ही लेखक समस्या का समाधान उपस्थित करता है। 'लाश' शीर्षक कहानी में निरंजन का चरित्र अस्वाभाविक और रहस्यमय सा प्रतीत होता है। अंत में अफीम खाकर आत्महत्या करना कहानी-शिल्प और चरित्र-निर्माण दोनों की दृष्टि से अनावश्यक एवं दोषपूर्ण है। पूरे संग्रह को देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक को मानव चरित्र में कहीं भी उज्ज्वलता और सरल पवित्रता के दर्शन नहीं हुए। सामाजिक मान्यताओं और मर्यादाओं को तो उसने तोड़ने में कहीं भी लेशमात्र हिचक नहीं दिखाई है। प्रसन्नता होती यदि उनके स्थान पर किसी और अधिक न्यायसंगत विधि का संकेत दिया गया होता।

लेखक का दृष्टिकोण इस प्रकार असामाजिक रहते हुए भी उसमें कहानी की संवेदना है। यदि इस संवेदनशीलता को अधिक स्वस्थ दृष्टि से वह विकसित करे तो उससे और अच्छी रचनाओं की आशा की जा सकती है।

भूदान यज्ञ—लेखक श्री विनोबा भावे। प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य विनोबा भावे के लेखों तथा भाषणों का संग्रह है, जिनमें विनोबा जी के महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम भूदान को उन्हीं के शब्दों और विचारों द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। विनोबा जी गांधी जी के विशिष्ट अनुयायियों में से हैं जिन्होंने अपना अधिकांश जीवन मौन एकाकी सेवा, रचनात्मक कार्य तथा चिंतन में बिताया है। इनका चिंतन जीवन के अनुभूत सत्यों पर आधृत है। दर्शन और उपनिषद् के गंभीर अध्येता होते हुए भी इन्होंने अपने विचारों में पुस्तक द्वारा अर्जित ज्ञान की गूढ़ता और जटिलता रंचमात्र नहीं आने दी है।

विनोबा का भूदान यज्ञ मनुष्य को एक नया जीवन-दर्शन देने की भूमिका मात्र है। इसके द्वारा वे एक नए, 'सर्वोदय' समाज की रचना का स्वप्न देखते हैं जिसका आधार बल, हिंसा या कानून द्वारा लादे जानेवाले विधान नहीं, प्रत्युत प्रेम और विचार हैं। विनोबा जी भगवान् वामन की तरह अपने कार्यक्रम के तीन कदम मानते हैं। "पहला कदम यह कि लोगों को दरिद्रनारायण को अपना एक लड़का समझकर भूमिहीनों को दान देना चाहिए। दूसरा कदम, लोगों को गरीबों की सेवा में लग जाना चाहिए और तीसरा कदम, गरीबों की सेवा करते करते स्वेच्छा से गरीब ही बन जाना चाहिए। यदि स्वेच्छा से यह कर सकोगे तो बलि राजा के समान बलिदान होगा और हिंदुस्तान का मामला हल हो जायगा।"

सर्वोदय को उन्होंने साम्ययोग भी कहा है, जो साम्यवाद से भिन्न है। वे साम्यवादी में दो मुख्य दोष देखते हैं—एक तो वह पुस्तक-पूजक है; दूसरे यहाँ के विचारप्रवाह को नहीं जानता। सर्वोदय का लक्ष्य समाज और समुदाय का सर्वांगीण विकास है, किंतु इसकी प्राप्ति वे व्यक्ति के दमन से नहीं मानते। उनका उद्देश्य है कि स्वेच्छा से मनुष्य अपनी उपलब्धि को समाज-हित में लगाए।

विनोबा का भूदान वास्तव में दान नहीं, प्रत्युत 'सम्यक् विभाजन' है। इसमें लेनेवाले की हीनता और देनेवाले की महत्ता भी वे नहीं मानते। देना कर्तव्य है और लेना अधिकार।

विनोबा जी का इस नए समाज की रचना का आदर्श इतना उच्च और महान् है कि युग-युग से वंचित प्रताड़ित मानव को सहसा विश्वास नहीं होता कि यह भी संभव है। पर वे अपने प्रयत्न में सफल हों इसकी कामना सभी करेंगे।

—मोतीसिंह

देवनागर (त्रैमासिक)—संपादक डा० नगेंद्र, श्री स० ही० वात्स्यायन। प्रकाशक संसदीय हिंदी परिषद्, नई दिल्ली। वार्षिक मूल्य ६)

भारतीय संसद् के सदस्यों की 'संसदीय हिंदी परिषद्' राजभाषा हिंदी के प्रचारार्थ प्रयत्नशील है। इसका 'राजभाषा' नाम से एक बुलेटिन निकलता है और 'देवनागर' नाम का यह त्रैमासिक साहित्यिक पत्र भी। इसके संरक्षक राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद तथा संपादक-मंडल में विभिन्न भारतीय भाषाओं के विद्वान् हैं। वर्ष १ अंक २ के संपादकीय के अनुसार इसने 'लिपि-भाषा-साहित्य-ऐक्य की मूल भित्तियों पर सांस्कृतिक राष्ट्रीय एकता के भव्य प्रासाद के निर्माण मे यथाशक्ति योग देने का व्रत लिया है। इसका लक्ष्य है 'समन्वित भारतीय साहित्य' का विकास। भारत में नाना विभेदों के होते हुए भी उसकी सांस्कृतिक एवं भावगत एकता के सूत्र को पकड़कर यह हिंदी के माध्यम से पारस्परिक संपर्क बढ़ाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर हुआ है।

सं० १९६४-६६ में, जस्टिस शारदाचरण मित्र के प्रयत्न से स्थापित एकलिपि-विस्तार-परिषद् के तत्त्वाधान में निकलनेवाली इसी नाम (देवनागर) की पत्रिका से इसका उद्देश्य इस अर्थ में अधिक व्यापक है कि उसकी भाँति यह समस्त भारतीय भाषाओं के लिये एक लिपि के प्रयोग को ही लक्ष्य न बनाकर साहित्यिक आदान-प्रदान द्वारा विभिन्न-भाषाभाषी प्रदेशों की सांस्कृतिक एवं भावगत एकता पर भी विशेष बल देता है। हिंदी और अन्य भाषाओं का पारस्परिक संपर्क बढ़ाने के लिये इस पत्र में हिंदीतर प्रमुख भारतीय भाषाओं की चुनी हुई कविताएँ, कहानियाँ आदि नागरी लिपि में हिंदी अनुवाद के साथ छापी जाती हैं। इसी प्रकार हिंदी की चुनी हुई कविता-कहानियों का मूल सहित अन्य भाषाओं में अनुवाद नागरी लिपि में दिया जाता है।

पत्र का उद्देश्य महान् और सात्विक है। रूप-रंग और पाठ्य-सामग्री भी आकर्षक है। आशा है, भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन के यथार्थ स्वरूप पर दृष्टि रखते हुए इसमें सामग्री का संकलन अधिकाधिक व्यापक दृष्टि से किया जायगा, जिससे यह पत्र परिषद् के समर्थ हाथों में उत्तरोत्तर उन्नत और दीर्घजीवी होकर राष्ट्र भारती की सेवा में संलग्न रहे।

—चित्रगुप्त

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर—लेखक वैद्य रणजित राय देसाई। प्रकाशक श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, कलकत्ता। सुपररायल अठपेजी, पृष्ठ संख्या ८१२, मूल्य ग्यारह रुपया।

आयुर्वेदीय संहिताओं के विवेचन को ग्रंथ शैली न कह उपदेश-शैली कहना अधिक उपयुक्त होगा। वहाँ विषय-प्रतिपादन में न किसी क्रम का ध्यान रक्खा गया है, न किसी प्रकार के विशेष वर्गीकरण का ही। उपदेश के ढंग से विभिन्न स्थलों में एक ही विषय पर भिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। साथ ही सभी संहिताएँ अपूर्ण उपलब्ध होने से संपूर्ण विषय किसी एक संहिता में मिलते भी नहीं। इसलिये आयुर्वेद के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को अध्ययन अध्यापन में बड़ी कठिनाई होती है।

प्रस्तुत पुस्तक बहुत बड़े अंश में इसे दूर करने में सफल हुई है। आयुर्वेदिक शरीर-क्रिया-विज्ञान से संबद्ध प्रायः सभी विषयों का संकलन कर बड़े अच्छे ढंग से उनका प्रतिपादन किया गया है। साथ ही पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के आवश्यक अंशों के समन्वयात्मक विवेचन से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

आज प्रायः देश के सभी आयुर्वेद विद्यालयों में समन्वयात्मक शिक्षाप्रणाली प्रचलित है। ऐसे विद्यालयों के लिये अपने विषय की यह उत्तम पाठ्य पुस्तक सिद्ध होगी। साथ ही चिकित्सकों के लिये भी यह कम उपादेय नहीं। स्थान स्थान पर विज्ञ लेखक ने बड़ा सुलझा हुआ चिकित्सकीय दृष्टिकोण उपस्थित किया है। दसवें अध्याय में इक्षुमेह तथा मधुमेह को पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार एक ही बता आयुर्वेदानुसार दोनों को श्लेष्मज तथा वातज भेद से अलग कर एक को साध्य तथा दूसरे को असाध्य सिद्ध करना इसी का परिचायक है।

अनेक ग्रंथों में बिखरे हुए नाड़ी-विज्ञान को चौबीसवें अध्याय में संकलित कर आधुनिक विज्ञान के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करते हुए चिकित्सकों के लिये अच्छी सामग्री प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार पाँचवें तथा छठे अध्याय में रस और उसके कार्यों का विवेचन चिकित्सकों के लिये विशेष उपयोगी है।

लेखक निर्भीक एवं स्वतंत्र विचार का है। उनतालीसवें अध्याय में उसने हृदय को मस्तिष्कार्थ में लेने संबंधी महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन के विचार का जहाँ निःसंकोच खंडन किया है वहाँ उसने आगे चलकर मृत शरीर में आत्मा की उपस्थिति सिद्ध करने की चेष्टा की है। उसका मत है कि आत्मा सर्वव्यापक है, अतः मृत शरीर में भी वह रहता है। केवल चार महाभूतों के साथ मन शरीर से निकल जाता है। इस कथन की पुष्टि में उसने चरक का "भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्" वचन उद्धृत किया है। किंतु इससे उसके मत का खंडन ही होता है, मंडन नहीं। यहाँ 'मनोजव' शब्द आत्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। मनोवेगवान् आत्मा अति सूक्ष्म चार महाभूतों के साथ एक देह से दूसरे देह में जाता है। जीर्ण वस्त्र के समान एक शरीर को त्याग आत्मा नवीन शरीर को धारण करता है, गीता का यह वाक्य भी इसी का पोषक है। इस प्रकार कहीं कहीं अपना स्वतंत्र मत स्थापित करने का असफल प्रयास भी लेखक की ओर से हुआ है।

छियालीसवें अध्याय में वात-पित्त-कफ का सामान्य परिचय देकर लेखक ने अपनी अध्ययनशीलता का अच्छा परिचय दिया है। आधुनिक विज्ञान के साथ त्रिदोष का तुलनात्मक विवेचन बड़ा ही आकर्षक है, किंतु उसके लिये आधुनिक वर्गीकरणार्थ हरिवंश पुराण की शरण लेना खटकता है। चरक के "वायुस्तंत्रमंत्रधरः, नियन्ता प्रणेता च मनसः, कर्ता गर्भाकृतीनाम्..." आदि वाक्य ही इसके लिये पर्याप्त हैं। हरिवंश पुराण चरक के बाद की रचना है, यह ऐतिहासिक सत्य है। अतः हरिवंश पुराण से चरक के तथ्यों को प्रमाणित करना असंगत है।

विषयों को सरलता से समझाने के लिये दिए गए ६९ चित्र तथा अंत में दी गई ६७ पृष्ठों की वर्णानुक्रमणी पुस्तक को और भी उपादेय बनाती है।

छपाई-सफाई आदि सभी दृष्टियों से पुस्तक सुंदर तथा आकर्षक है। आयुर्वेद के अध्यापकों, छात्रों तथा सभी चिकित्सकों एवं शरीरक्रिया विज्ञान के प्रेमियों के लिये पुस्तक संग्रहणीय है।

—व्रजमोहन दीक्षित

समीक्षार्थ प्राप्त

आत्मदर्शनोपनिषद्—द्रष्टा और अनुवादक श्री लाक्ष्मणि; प्रकाशक युनिवर्सिटी प्रेस, देहली। मूल्य ॥)

इंसाफ—ले० श्री यज्ञदत्त शर्मा; प्र० साहित्य प्रकाशन, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मूल्य ३)

ईशावास्योपनिषद्—अनु० श्री लाक्ष्मणि, प्र० युनिवर्सिटी प्रेस, देहली। मूल्य ॥)

काले बादल—ले० श्री रोमन किम, अनु० श्री नरोत्तम नागर, प्र० साहित्य प्रकाशन, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ४)

गांधीचरितमानस—ले० श्री विद्याधर महाजन एम० ए०, पी० ई० एस०, प्र० हिंदी भवन, इलाहाबाद ३। मू० ५॥=)

ग्राम्य गीतों में करुण रस—ले० श्री सीतादेवी बी० ए०, प्रभाकर, श्री लीलावती प्रभाकर, श्री दमयंती एम० ए०। प्र० युगांतर प्रकाशन लि०, दिल्ली। मू० २)

तुलसी और उनका काव्य—ले० श्री सत्यनारायण सिंह, संसद् कार्यमंत्री, प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ?

दिनकर की काव्य-साधना—ले० श्री नेमिचंद्र जैन 'भावुक'; प्र० अंतर्प्रांतीय कुमार साहित्य परिषद्, जोधपुर। मू० ।)

नलदवदंती रास—डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा, प्र० महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा। मू० ४।)

पुनरुद्धार—ले० श्री कंचनलता सब्बरवाल; प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ३)

बदलते दृश्य (विदेशयात्रा संस्मरण)—ले० श्री राजवल्लभ ओझा, प्र० हिंदी भवन, इलाहाबाद। मू० ६)

बाल मेला—ले० श्री शंभुनाथ 'शेष', प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ।॥)

ब्रह्मचर्यामृत—ले० आचार्य भगवान देव; प्र० वैदिक साहित्य सदन, सीताराम बाजार, देहली। मू० ।=)

भस्म विज्ञान—ले० एवं टीकाकार श्री हरिशरणानंद; प्र० आयुर्वेद विज्ञान ग्रंथमाला कार्यालय, अमृतसर। मू० १०)

भौतिक रसायन की रूपरेखा—ले० डा० रामचरण मेहरोत्रा; प्र० उत्तर प्रदेश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग। मू० ७॥)

मनुष्य की कहानी—ले० श्री जयचंद्र विद्यालंकार, प्र० हिंदी भवन, इलाहाबाद। मू० ॥=)

मानसिंह और मानकुतूहल—ले० श्री हरिहरनिवास द्विवेदी; प्र० विद्यामंदिर प्रकाशन, मुरार, ग्वालियर। मू० ५)

युगपुरुष राम—ले० श्री अक्षयकुमार जैन, प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ४)

रश्मिमाला अथवा जीवनसंदेश गीतांजलि—ले० डा० मंगलदेव शास्त्री; प्र० हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। मू० ३॥)

राजस्थान के जैन शास्त्र-भंडारों की ग्रंथ-सूची, भाग २—संपादक श्री कस्तूरचंद कासलीवाल, प्र० मंत्री, श्री दिगंबर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, महावीर पार्क रोड, जयपुर। मू० ८)

रूसी क्रांति के अग्रदूत—ले० श्री रामेश्वरप्रसाद नारायण सिंह; प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ४)

रोगों से रक्षा—ले० डा० शिवदयाल गुप्त, ए० एम० एस०; प्र० लेखक स्वयं, सिरसागंज, मैनपुरी। मू० ?

लहसुन बादशाह—ले० स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, प्र० लेखक स्वयं, सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर। मू० १॥)

वाणिज्य सर्वस्व, खंड १—ले० श्री मोतीलाल नागर; प्र० भविष्य फल मंदिर, बनारस। मू० १॥)

विंध्य भूमि की लोककथाएँ—ले० श्री श्रीचंद्र जैन, एम० ए०, तथा श्री अंबालाल श्रीवास्तव एम० ए०; प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० १)

विद्यार्थियों से—ले० गांधी जी; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मू० २)

विद्रोही बानपुर—ले० श्री वासुदेव गोस्वामी, प्र० सहयोगी प्रकाशन मंदिर लि०, दतिया। मू० १।)

वीर धर्म की कहानियाँ—ले० श्री जयभिक्खु, अनु० श्री मोहनलाल मेहता; प्र० गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद। मू० २)

वीर धर्म की प्राणि-कथाएँ—ले० श्री जयभिक्खु, अनु० श्री अमृतलाल मोदी; प्र० गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद। मू० १॥)

शल्य-वध—ले० श्री उग्रनारायण मिश्र, प्र० दूधनाथ पुस्तकालय और प्रेस, ६३ सूता पट्टी, बड़ा बाजार, कलकत्ता। मू० २)

शिक्षा की समस्या—ले० गांधी जी; प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मू० ३)

संक्रामक-रोगविज्ञान—ले० श्री बालकराम शुक्ल आयुर्वेदशास्त्राचार्य, प्र० वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता। मू० ६)

संतति-निग्रह—ले० डा० शिवदयालु गुप्त, ए० एम० एस०; प्र० लेखक स्वयं, सिरसागंज, मैनपुरी। मू० ?

सदुपदेश-मधु-संचय—ले० श्री लक्ष्मीनारायण पांडेय; प्र० लेखक स्वयं, रामाश्रम सेवासंघ, गंगौली, शाहाबाद। मू० ॥=)

सर्वतोभद्र चक्र (अर्द्धकांड)—व्याख्याकार श्री मोतीलाल नागर, प्र० भविष्य फल मंदिर, बनारस। मू० ३)

सुंदर कहानियाँ— ले० श्री राजबहादुर सिंह, प्र० आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० १)

सेक्स का स्वभाव—ले० श्री मन्मथनाथ गुप्त; प्र० आशा प्रकाशन, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ३)

हवेली की ईंटें—ले० श्री अग्निहोत्री; प्र० साहित्य प्रकाशन, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ३)

हिंदी कवियों का आलोचनात्मक अध्ययन—ले० श्री विराज, एम० ए०; प्र० साहित्य मंदिर, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली। मू० ३)

विविध

भारतीय भाषाएँ और अंग्रेजी

अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के कर्ता एवं समर्थक तथा भारतीय एकता के पोषक सभी विचारवान् लोगों एवं शिक्षा-विशेषज्ञों का भी यह निश्चित मत था कि भारत में शिक्षा, अंतर्प्रांतीय व्यवहार तथा शासकीय कार्यों में विदेशी भाषा का प्रयोग नितांत अस्वाभाविक एवं अनिष्टकारी है; इन प्रयोजनों के लिये कोई भारतीय भाषा ही राष्ट्रभाषा के रूप में व्यवहृत होनी चाहिए और इसके लिये हिंदी ही अपने सर्वाधिक प्रचार, दीर्घ परंपरा तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साथ सहज संबंध के कारण सबसे अधिक उपयुक्त है।

जिन संस्थाओं और व्यक्तियों ने भारत में हिंदी का अधिकाधिक प्रचार करने का उद्योग किया - और अब भी कर रहे हैं--उनका लक्ष्य राष्ट्रीय एकता के लिये हिंदी को वास्तविक राष्ट्रभाषा का पद दिलाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहा है। अंग्रेजी को उसके वर्तमान पद से हटाए बिना तो हिंदी को यह पद मिलना संभव ही नहीं था, किंतु अन्य प्रादेशिक भाषाओं को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाने की उनके मन में कभी कल्पना भी नहीं हुई। इन भाषाओं के सत्साहित्य से तो हिंदी स्वयं कुछ न कुछ ग्रहण ही करती रही है। इसके अतिरिक्त आज भारत में हिंदी का जितना अधिक प्रचार है उसका अधिकांश श्रेय अहिंदीभाषी महानुभावों को ही है। यदि वे ऐसा समझते कि हिंदी से अन्य प्रादेशिक भाषाओं को क्षति पहुँचेगी, तो क्या वे स्वयं हिंदी का प्रचार कर अपने ही हाथों अपनी भाषा का अहित करते? वास्तविक बात यह थी कि उनकी दूरगामी निर्मल दृष्टि ने प्रारंभ में ही यह देख लिया कि भारत एकहृदय है, एकदेह है, उसकी अपनी एक भारती भी होनी ही चाहिए, और हिंदी ही इसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त है।

इस दृष्टि से स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में हिंदी को जो स्थान बहुत सोच-विचार और तर्क-वितर्क के बाद दिया गया, उसका औचित्य सब

संदेहों से परे है। फिर भी यह सत्य है कि कहीं तो प्रकट और अभद्र रूप में और कहीं बड़ी कौशलपूर्ण युक्तियों से हिंदी के मार्ग में अड़ंगे डालने का प्रयत्न आज भी हो रहा है, यद्यपि यह भी ध्रुव सत्य है कि यह कुप्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता और इसलिये उसकी बहुत चिंता आवश्यक नहीं। परंतु हिंदी के अखिल-भारतीय व्यवहार में कुछ व्यावहारिक और वास्तविक कठिनाइयाँ भी हैं, उनकी ओर से आँखें मूँदना उचित नहीं। धैर्यपूर्वक उनका निराकरण तो करना ही होगा।

संविधान के अनुसार संघ शासन के सभी विभागों के कार्यों में तथा संघ और राज्यों एवं एक राज्य और अन्य राज्यों के बीच व्यवहार में अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी के प्रयोग के लिये जो पंद्रह वर्षों की अवधि दी गई है वह इसलिये आवश्यक समझी गई कि इस बीच हिंदी अंग्रेजी का स्थान लेने की योग्यता प्राप्त कर ले। वस्तुतः हिंदी को अविलंब संघभाषा के रूप में व्यवहृत होने के अयोग्य समझने का कारण हिंदी की अपनी अयोग्यता कदापि नहीं है। ऊपर से लादी गई एक विदेशी भाषा को जिसे डेढ़ सौ वर्षों की व्यवस्थित शिक्षा के बाद भी बहुत थोड़े लोग जानते हैं, योग्य मानना और अपने देश की एक प्राचीन-परंपरा-प्राप्त भाषा को जिसे देश के तीन चौथाई लोग समझते हैं तथा जिसका उन्नतिशील गौरवमय साहित्य भी है, अयोग्य बतलाना वस्तुतः विशेष-परिस्थिति-जन्य अपनी ही दुर्बलता का द्योतक है, हिंदी की नहीं। वैसे तो हिंदी क्या किसी भी भाषा में कार्य प्रारंभ करने में सामान्य कठिनाइयाँ आती ही हैं और वे उसके निरंतर व्यवहार से ही दूर होती हैं, उसे टालते रहने से नहीं। वस्तुतः हिंदी को व्यवहार के अयोग्य समझने का मुख्य और स्पष्ट कारण तो यह है कि जो शासनाधिकारी, न्यायाधीश, राजकर्मचारी आदि वर्षों से अंग्रेजी में और उसी प्रणाली से काम करने के अभ्यस्त हैं उन्हीं के हाथों और अनुभवों से शासकवर्ग को काम लेना है, और उनके लिये हिंदी क्या किसी भी नई भाषा में काम करने में कठिनाई स्वाभाविक है। साथ ही शासन के बाहर भी जो संपादक, शिक्षक, नेता, विद्वान् आदि आज तक अंग्रेजी का ही व्यवहार करते रहे हैं उन्हें भी अंग्रेजी का मान यकायक घट जाना स्वभावतः इष्ट नहीं। हिंदी का विरोध तो वे नहीं कर सकते, पर या तो वे प्रादेशिक भाषाओं को हिंदी से क्षति पहुँचने का भय दिखाकर हिंदी के सर्वभारतीय प्रचार में विलंब उपस्थित करना चाहते हैं अथवा हिंदी के योग्य बनने तक अंग्रेजी की सत्ता स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं, जिससे लोगों में हिंदी के प्रति हीन भावना जागती रहती है और जहाँ

सरलता से हिंदी का व्यवहार संभव है वहाँ भी उसे टालते रहने की मनोवृत्ति उग्र होती है। अन्यथा, स्वाभाविक प्रक्रिया तो यह थी कि संघभाषा के रूप में हिंदी के पूर्णतः व्यवहार की घोषणा जिस दिन की जाती उसी दिन सब कठिनाइयाँ होते हुए भी उसका प्रयोग आरंभ हो जाता, भले ही जहाँ अनिवार्य आवश्यकता होती वहाँ साथ साथ कुछ समय तक अंग्रेजी से भी सहायता ली जाती, और संभवतः पाँच ही वर्ष बाद उसकी भी आवश्यकता न रह जाती। उस अवस्था में अंग्रेजी के हिंदी प्रतिशब्दों और शब्दशः अनुवादों की प्रतीक्षा आवश्यक न होती, परंतु यदि उसे अनिवार्य ही समझा जाता तो भी व्यवहार-योग्य अनुवाद प्रस्तुत करने के लिये संभवतः पाँच ही वर्ष यथेष्ट होते।

संघभाषा के प्रयोजनों के अतिरिक्त अंग्रेजी का समर्थन कतिपय विद्वान् उसकी मौलिक शक्ति, संपन्नता और व्यापक प्रभाव के कारण करते हैं और भारत में उसे प्रमुख पद पर बनाए रखने के पक्षपाती हैं। अंग्रेजी की शक्ति और व्यापकता यथार्थ है। भारतीय भाषाओं के साथ उसका डेढ़ शतियों का ऋणी-धनी का संबंध भी रहा है। अतः भविष्य में हम अंग्रेजी से लाभ उठाते रहें ऐसी परिस्थिति बनी रहने देने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परंतु पहले से अब परिस्थिति भिन्न है। अब तक अंग्रेजी से भारतीय भाषाओं ने जो कुछ ग्रहण किया वह अनिवार्य रूप में, उसे प्रभु भाषा मानकर। विवेकपूर्वक उससे अपने अनुकूल आवश्यक वा सुंदर तत्त्वों को ग्रहण करने की स्वतंत्रता उन्हें नहीं थी। अब अंग्रेजी का वह प्रभुत्व अनिवार्य नहीं है। अब तो हमें उससे विवेकपूर्वक ही ग्रहण करना है। अतः असंदिग्ध रूप से अब यह निश्चित कर लेना चाहिए कि हम भविष्य में अंग्रेजी का गौरव किस रूप में स्वीकार करें तथा भारतीय भाषाओं के साथ उसका क्या संबंध हो। भविष्य में हिंदी तथा हमारी अन्य भाषाओं का स्वाभाविक और स्वतंत्र विकास हमारे इसी निश्चय पर अवलंबित है।

जहाँ तक संघभाषा का प्रश्न है, यह तो निश्चित ही है कि हिंदी को पूर्ण रूप से अंग्रेजी का स्थान लेना है, आज नहीं तो कुछ वर्ष बाद सही। राजभाषा के रूप में अंग्रेजी की शिक्षा भारतीयों को राजभक्त सेवक बनाने के लिये प्रारंभ की गई थी। उस रूप में अब वह भारतीयों के लिये अनावश्यक है। विदेश विभाग में काम करनेवालों के लिये अवश्य अंग्रेजी की आवश्यकता रहेगी, परंतु वहाँ तो

अंग्रेजी ही क्यों, सभी संबद्ध देशों की भाषाओं से काम पड़ता रहेगा। यदि यह कहें कि अंग्रेजी एक प्रकार से अंतर्राष्ट्रीय भाषा है, उससे अन्य देशों से भी व्यवहार मे सुविधा होती है, इसलिये अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है, तो इस दृष्टि से भी कुछ पर्यटक, व्यापारी, राजपुरुष आदि अपने प्रयोजन के अनुसार अंग्रेजी सीख लेंगे। सबके लिये अनिवार्य रूप से उसे पढ़ना निरर्थक है।

अंग्रेजी बहुत संपन्न और समर्थ भाषा है, उसके द्वारा हमें ऐसे भाव, विचार और ज्ञान प्राप्त होते हैं जो भारतीय भाषाओं के साहित्य में नहीं है, इसलिये भारतीयों को सम्मानपूर्वक अंग्रेजी का अध्ययन करना चाहिए--यह तर्क प्रकटतः विशेष विचारणीय है। परंतु मुख्य प्रश्न अंग्रेजी के अनादर वा त्याग का नहीं, उसके स्थान और महत्त्व का है। अंग्रेजी के गुणों और लाभों के विचार से उसका अध्ययन-अध्यापन अवश्य होना चाहिए, परंतु यह स्पष्ट हो आवश्यक है कि किसके लिये और किस रूप में? क्या अंग्रेजी भाषा और साहित्य की उपयोगिता हमारे लिये इतनी अधिक है कि माध्यमिक और विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षाक्रम में इन्हें अनिवार्य स्थान दिया जाय? अथवा क्या अंग्रेजी भारतीय भाषाओं से अधिक संपन्न और प्रभावशालिनी है इसी कारण उसे इन सबके ऊपर स्थान देना चाहिए?

वास्तविक बात तो यह है कि अंग्रेजी कितनी भी समुन्नत और उपयोगी क्यों न हो, सभी भारतीयों के लिये उसका ज्ञान अनिवार्य कदापि नहीं हो सकता। पहली बात यह है कि अपनी भाषा कैसी भी हो, उसका स्थान और मान विदेशी भाषा की तुलना में स्वभावतः सदैव ऊँचा माना जाएगा। फिर यदि अपनी भाषा शक्तिशालिनी हो, उसकी गौरवपूर्ण परंपरा और उन्नत साहित्य भी हो, तो उसके वृद्धि-विकास की सहस्र संभावनाएँ हैं और कोई कारण नहीं कि निरंतर व्यवहार एवं उद्योग से वह अंग्रेजी के समान ही उन्नत और संपन्न न बन सके। अतः भारतीयों के लिये अपनी भाषाओं के ऊपर अंग्रेजी को ज्येष्ठता देकर उसके अनिवार्य अध्ययन का आग्रह करना तो सर्वथा अविचारपूर्ण है। जितना समय, परिश्रम और व्यय अंग्रेजी के अध्ययन में लगेगा उतना यदि अपनी भाषाओं में लगाया जाय तो बड़ी सरलता और शीघ्रता से वे हमारे अभिमान की वस्तु बन सकती हैं।

अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य न मानने का अर्थ अंग्रेजी का अनादर कदापि नहीं, वह केवल अपनी भाषा का उचित सम्मान मात्र है। अंग्रेजी से हमारा संबंध

बना रहे, इसपर किसी प्रकार की आपत्ति अदूरदर्शिता है। परंतु अंग्रेजी के ज्ञान बिना कभी व्यापक विद्वत्ता और योग्यता आ ही नहीं सकती, यह आज की परिस्थिति में भले ही सत्य माना जाय, सदा के लिये ऐसा मानना लज्जाजनक अविचार है।

साहित्य के रसास्वादन और ज्ञान-विस्तार के लिये अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए और उसके लिये प्रोत्साहन भी मिलना चाहिए। परंतु सबके लिये अनिवार्य रूप में नहीं, कुछ लोगों के लिये ऐच्छिक रूप में; क्योंकि साहित्य के रसास्वादन की रुचि और विशिष्ट ज्ञान के अर्जन की आवश्यकता कुछ ही लोगों को हो सकती है, सबको नहीं। साथ ही यह भी विचारणीय है कि अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भी अनेक अत्यंत संपन्न और समुन्नत विदेशी भाषाएँ हैं। उक्त प्रयोजनों के लिये अंग्रेजी की भाँति उनके भी अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था रहनी चाहिए। प्राचीन संबंध के नाते अंग्रेजी अवश्य उनकी अपेक्षा हमारे अधिक निकट है और अंग्रेजी पढ़ने-समझनेवाले आज लाखों व्यक्ति भारत में हैं। परंतु इस कारण हमें अंग्रेजी से अनुचित मोह न होना चाहिए। यह मोह अवश्य ही हमारे ज्ञान-विस्तार में बाधक होगा। भविष्य में अंग्रेजी का स्थान हमें आज के थोड़े से अंग्रेजी-शिक्षितों की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत करोड़ों अंग्रेजी न जाननेवाले भारतीयों और आनेवाली पीढ़ियों के हित को ध्यान में रखकर निश्चित करना होगा। अंग्रेजी की अनिवार्य शिक्षा का अर्थ निःसंशय रूप से हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के समुचित विकास में स्थायी बाधा की सृष्टि करना होगा।

अंग्रेजी की सबके लिये अनिवार्यता अस्वीकार करते ही हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का सरल और स्वाभाविक संबंध सुस्पष्ट हो जाता है। हिंदी अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण सभी प्रदेशों की स्वीकृति और सम्मति से संघभाषा बनी है--व्यवहार की सुविधा के लिये। इस रूप में वह संपूर्ण देश की अपनी भाषा है। जितनी वह हिंदी प्रदेशों की है उतनी ही अन्य प्रदेशों की भी। इसपर अभिमान और इसकी उन्नति का प्रयत्न सभी प्रदेशों के निवासियों का समान कर्तव्य है। कोई अन्य भारतीय भाषा हिंदी के बदले संघभाषा बनती तो उसकी भी स्थिति यही होती।

संघभाषा के अतिरिक्त प्रादेशिक भाषा और उसके विशिष्ट साहित्य के रूप में भी हिंदी पर अभिमान हिंदी प्रदेशों के निवासियों का अपना सहज अधिकार है और

इसे उस रूप में समुन्नत बनाने का विशेष दायित्व भी उन्हीं पर है। अन्य प्रदेशों के लोग भी इसे उस रूप में ग्रहण करें ही, इसके लिये उनका कोई आग्रह नहीं हो सकता। परंतु यह तो निर्विवाद है कि हिंदी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं का परस्पर साहित्यिक आदान-प्रदान सदा इनके लिये हितकर ही होगा।

—संपादक

संशोधन

नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५८, अंक १–२, सं० २०१० के पृ० ९४ पर 'प्राचीन हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज, बीसवीं त्रैवार्षिक विवरणिका' शीर्षक से प्रकाशित लेख में खोज विभाग के निरीक्षक पद से पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के त्यागपत्र का उल्लेख भूल से हो गया है, इसका हमें खेद है। वास्तव में मिश्र जी ने त्यागपत्र नहीं दिया था। सं० २००७ के सौर ज्येष्ठ ६ को उक्त पद के लिये स्वतंत्र चुनाव हुआ था, जिसमें डा० वासुदेवशरण अग्रवाल निरीक्षक चुने गए। पाठक कृपया इसे यथास्थान सुधार कर पढ़ें।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
निरीक्षक, खोज विभाग
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

सभा की प्रगति

आर्यभाषा पुस्तकालय

इस वर्ष वैशाख से भाद्रपद तक पुस्तकालय ११५३ दिन तथा वाचनालय १३२३ दिन खुला रहा। पुस्तकालय में बैठकर पढ़नेवाले पाठकों की दैनिक संख्या लगभग २५० रही। इस अवधि में अब तक भेंट में ३६०, समीक्षार्थ ५५ तथा परिवर्तन में ६ पुस्तकें प्राप्त हुईं। पुस्तकालय के समस्त सहायकों की संख्या ४३४ है। जिसमें ५५ आजीवन सहायक हैं। अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष अनुसंधान कार्य के लिये पुस्तकालय की सहायता लेनेवाले अध्येताओं की संख्या अधिक रही। अब तक २० अध्येता अपना कार्य कर चुके हैं तथा यह क्रम आगे चालू है।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

खोज के पिछले त्रैवार्षिक विवरणों को अँगरेजी से हिंदी में रूपांतरित करके छापने का कार्य पूर्ववत् चल रहा है। इस अवधि में सन् १९२९–३१ की खोज का त्रैवार्षिक विवरण छपकर प्रकाशित हुआ। सन् १९३२–३४ की खोज का त्रैवार्षिक विवरण अँगरेजी से हिंदी में रूपांतरित करके प्रेस में छपने के लिये दे दिया गया है जिसके अब तक १६ फर्मे छप चुके हैं।

साहित्य विभाग

सभा ने हीरक जयंती के अवसर पर हिंदी भाषा की गौरववृद्धि के लिये 'आकर ग्रंथमाला' तथा 'राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रंथमाला' के प्रकाशन का निश्चय किया था। आकर ग्रंथमाला के लिये सभा को केंद्रीय सरकार से पचीस सहस्र तथा श्री घनश्यामदास बिड़ला से पचीस सहस्र रुपयों का अनुदान प्राप्त हुआ है। आकर ग्रंथमाला के लिये पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र तथा राजा बलदेवदास बिड़ला ग्रंथमाला के लिये डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी संपादक चुने गए हैं। ग्रंथमालाओं के लिये एक वैतनिक सहायक की भी नियुक्ति की गई है। इसके साथ ही संपादकों के सहायतार्थ परामर्श-मंडल का संघटन किया गया है। इस प्रकार दोनों ग्रंथमालाओं का कार्य व्यवस्थित रूप में आगे बढ़ रहा है।

आकर ग्रंथमाला के अंतर्गत दास ग्रंथावली एवं गंग ग्रंथावली तथा बिड़ला ग्रंथमाला के अंतर्गत रज्जब ग्रंथावली एवं रामानंद ग्रंथावली का संपादन प्रारंभ हो गया है। ये ग्रंथ शीघ्र ही तैयार हो जायँगे।

आचार्य चंद्रबली पांडेय लिखित 'तुलसी की जीवन-भूमि' नामक नवीन ग्रंथ हाल में प्रकाशित हुआ है। हिंदीतर भारतीय भाषाओं के काव्यों का संग्रह पर्याप्त टिप्पणी, भूमिका आदि सहित देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। सबसे पहले स्व० रवींद्रनाथ ठाकुर तथा 'मीर' का संग्रह प्रकाशित होगा जिसका संपादन श्री डा० अमरनाथ झा कर रहे हैं। अन्य ग्रंथों में 'चंदेल और उनका राजत्वकाल' का संपादन आचार्य मदनमोहन जी, मान ग्रंथावली का डा० मोतीलाल मेनारिया, बालकृष्ण भट्ट ग्रंथावली का श्री धनंजय भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली का श्री विजयशंकर मल्ल द्वारा हो रहा है। ढोला मारू रा दूहा का पुनर्मुद्रण हो रहा है तथा श्री शंभुनाथ वाजपेयी, सहायक मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, द्वारा अनूदित 'असीम' छप रहा है। श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी द्वारा अनूदित 'रस गंगाधर' ग्रंथ भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा। इनके अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन ग्रंथ जो साहित्य की अमर गौरवपूर्ण निधि हैं, उनके आदर्श संपादन और प्रकाशन की व्यवस्था हो रही है।

हिंदी शब्दसागर

सभा ने कोश-विभाग के पुनस्संघटन का विचार पिछले वर्ष ही स्थिर कर लिया था, परंतु भारत सरकार से पत्राचार और योजना की स्वीकृति प्राप्त होने के अनंतर इस विभाग का विधिवत् कार्यारंभ १ आषाढ़ २०११ से हुआ। संप्रति श्री करुणापति त्रिपाठी के निरीक्षण में तीन वैतनिक सहायक संपादक इस विभाग में कार्य कर रहे हैं।

हिंदी शब्दसागर के 'अ' अक्षर का शोधन आरंभ हो गया है। कोश-विभाग के लिये अपेक्षित ग्रंथों की सूची तैयार कर ली गई है। श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध कोशों की कोश-प्रणाली का भी अध्ययन किया गया है तथा विभिन्न पद्धतियों में से शब्दसागर के लिये क्या क्या ग्रहण करना चाहिए, यह भी स्थिर कर लिया गया है। एक परिपत्र प्रकाशित करके प्रादेशिक भाषाओं के विद्वानों, कोश-प्रकाशकों एवं पत्रकारों से अनुरोध किया गया है कि शब्दसागर को आधुनिकतम बनाने के लिये आवश्यक सुझाव दें। फलतः कतिपय लोगों ने अपनी सम्मतियाँ भेजी हैं। श्री कुँवर सुरेशसिंह

जी ने पशु-पक्षियों की शब्दावली तैयार कर देने का आश्वासन दिया है। कोश-उपसमिति एवं संपादक-मंडल की संयुक्त बैठक में संपादन-प्रणाली भी स्थिर कर ली गई है।

हिंदी शब्दसागर के लिये नवीन शब्दों के संग्रह का कार्य हो रहा है, जिसमें अब तक ८५० शब्दों की स्लिपें बनाई जा चुकी हैं। साथ साथ शब्दसागर का शोधन भी होता चलता है, और शब्दसागर की पुराने स्लिपों को भी सुरक्षा की दृष्टि से अच्छे मोटे कागज पर फिर से उतारा जा रहा है। शब्दसागर के लिये इस समय जिन ग्रंथों से शब्द-चयन का काम हो रहा है, उनमें पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, ढोला मारू रा दूहा, अभिधानप्पदीपिका आदि मुख्य हैं।

हिंदी विश्वकोश

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के आग्रह पर सभा ने हिंदी विश्वकोश की एक योजना प्रस्तुत की है जिसे सरकार के पास विचारार्थ भेज दिया गया है। यह विश्वकोश डबल डिमाई अठपेजी आकार के एक एक हजार पृष्ठों के तीस खंडों में पूरा होगा तथा इसपर लगभग बाईस लाख रुपए व्यय होंगे। भारत सरकार द्वारा स्वीकृत हो जाने पर पूरी योजना पत्रिका के आगामी अंक में प्रकाशित होगी।

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

उत्तर प्रदेश की सरकार ने अपनी पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास प्रस्तुत करने का कार्य सभा को सौंपा है। सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास की जो योजना सरकार के सम्मुख उपस्थित की थी उसे स्वीकार करके सरकार ने इस कार्य के लिये ५००००) पचास हजार रुपए का अनावर्तित अनुदान देना निश्चित किया है। इस कार्य में कुल २१२६१० रु० व्यय होने का अनुमान है।

प्रस्तावित योजना में हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास को सतरह भागों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक भाग के एक एक स्वतंत्र संपादक होंगे जो अपने अपने भागों का लेखन-संपादन करने के अतिरिक्त अपने भाग के लिये आवश्यकतानुसार कुछ अन्य लेखकों की भी व्यवस्था करेंगे। संपूर्ण इतिहास के प्रधान संपादक डा० अमरनाथ जी झा होंगे। प्रस्तावना राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद जी लिखने की कृपा

करेंगे। सभा के इतिहास विभाग तथा इसके संपादक-मंडल के संयोजक का दायित्व डा० राजबली पांडेय जी ने स्वीकार किया है। इतिहास के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये ११ ज्येष्ठ २०११ को सभा की प्रबंध समिति ने एक व्यवस्थापक-संपादक की नियुक्ति कर ली है।

संपूर्ण इतिहास की योजना निम्नलिखित है। जिन भागों के लिये संपादकों की स्वीकृति मिल चुकी है उनके आगे उनका नामोल्लेख कर दिया गया है —

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

भूमिका-लेखक तथा प्रधान संपादक डा० अमरनाथ झा

पहला भाग, हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका—डा० राजबली पांडेय

दूसरा भाग, हिंदी भाषा का विकास—डा० धीरेंद्र वर्मा

तीसरा भाग, हिंदी साहित्य का उदय और विकास (१४०० वि० तक)—डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी

चौथा भाग, भक्तिकाल : निर्गुण भक्ति (१४००–१७०० वि०)—पं० परशुराम चतुर्वेदी

पांचवाँ भाग, भक्तिकाल : सगुण भक्ति (१४००–१७००)—पं० चंद्रबली पांडेय

छठा भाग, शृंगार काल : रीतिबद्ध (१७००–१९०० वि०)—डा० नगेंद्र

सातवाँ भाग, शृंगार काल : रीतिमुक्त (१७००–१९०० वि०)—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र

आठवाँ भाग, हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान : हरिश्चंद्र काल (१९००–१९५० वि०)

नवाँ भाग, हिंदी साहित्य का परिष्कार : द्विवेदी काल (१९५०–१९७५ वि०)

दसवाँ भाग, हिंदी साहित्य का उत्कर्ष काल : काव्य (१९७५–९५ वि०)—पं० नंददुलारे वाजपेयी

ग्यारहवाँ भाग, हिंदी साहित्य का उत्कर्ष काल : नाटक (१९७५–९५ वि०)—डा० राम-कुमार वर्मा

बारहवाँ भाग, हिंदी साहित्य का उत्कर्ष काल : उपन्यास, कथा, आख्यायिका (१९७५–९५ वि०)—डा० श्रीकृष्णलाल

तेरहवाँ भाग, हिंदी साहित्य का उत्कर्ष काल : समालोचना, निबंध (१९७५–९५ वि०)—श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'

चौदहवाँ भाग, हिंदी साहित्य का अद्यतन काल (१९९५–२०१० वि०)—डा० राम-अवध द्विवेदी

पंद्रहवाँ भाग, हिंदी में शास्त्र तथा विज्ञान--डा० विश्वनाथप्रसाद

सोलहवाँ भाग--हिंदी का लोक साहित्य

सतरहवाँ भाग—हिंदी का उन्नयन

हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के संपादक-मंडल की प्रथम बैठक १५ आषाढ़ २०११ को हुई जिसमें १६ में से कुल ७ संपादक उपस्थित थे। इस बैठक में मुख्यतः हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन हुआ और इतिहास-लेखन के लिये सामान्य सिद्धांत निरूपित हुए तथा इतिहास-लेखन की पद्धति स्थिर की गई।

संपादक-मंडल की दूसरी बैठक ६ भाद्रपद २०११ को हुई। इस बैठक में मुख्य रूप से सभी भागों की रूपरेखा पर विचार किया गया। संपूर्ण इतिहास पर सम्यक् विचार करते समय हिंदी भाषा के विकास और हिंदी की जनपदीय भाषाओं के लोक-साहित्य पर भी एक एक भाग रखने का निश्चय किया गया। इस प्रकार अब इस इतिहास में कुल १७ भाग होंगे।

इतिहास के जिन जिन भागों के लिये संपादकों की स्वीकृति आ जाने का उल्लेख ऊपर हो चुका है उनका लेखन-कार्य भी आरंभ हो गया है। भिन्न भिन्न भाग जैसे जैसे प्रस्तुत होते चलेंगे वैसे वैसे उनके प्रकाशन की भी व्यवस्था होती चलेगी।

हिंदी शिष्टमंडल

भारतीय स्वातंत्र्य के फलस्वरूप भारत के संविधान में हिंदी को राजभाषा का स्थान प्राप्त हुआ। अब आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी प्रतिष्ठा के सर्वथा योग्य बने और उसमें ऐसे साहित्य का निर्माण हो, जिसमें समस्त भारत के जीवन-सौंदर्य का प्रतिबिंब दिखाई पड़े और जिसे भारत का सच्चा राष्ट्रीय साहित्य कहलाने का गौरव प्राप्त हो। हिंदी तथा हिंदीतर प्रदेशों के साहित्यिकों के बीच निकट संपर्क स्थापित करने के उद्देश्य से सभा ने दक्षिण भारत में एक शिष्टमंडल भेजने का निश्चय किया है। सभा का ऐसा विचार है कि जब तक एक प्रांत के लोग दूसरे प्रांतों में जाकर वहाँ की धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवनदशाओं को प्रत्यक्ष नहीं देखेंगे तब तक पारस्परिक संपर्क दृढ़ नहीं होगा। दक्षिण भारत भारतवर्ष का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण अंग है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में उसका बहुत बड़ा योग रहा है। शिष्टमंडल की यह हार्दिक कामना है कि वह दक्षिण

भारत के प्रमुख सांस्कृतिक केंद्रों में भ्रमण करके वहाँ के सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन का साक्षात्कार और अनुभव करे।

इस शिष्टमंडल में अनुलिखित सदस्य संमिलित होंगे—१. डा० अमरनाथ झा, २. आचार्य चंद्रबली पांडेय, ३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, ४. डा० धीरेंद्र वर्मा, ५. डा० राजबली पांडेय, ६. कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर', ७. श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल। आवश्यकता पड़ने पर अन्य लोगों का भी सहयोग प्राप्त किया जायगा।

शिष्टमंडल दिल्ली, हैदराबाद, बंबई होता हुआ निम्नलिखित प्रमुख स्थानों की यात्रा करना चाहता है तथा लौटते समय उत्कल भी जायगा। यात्रा अक्टूबर, १९५४ के प्रथम सप्ताह में प्रारंभ होगी।

कर्नाटक बंगलौर, मैसूर तथा निकट के कुछ केंद्र।

तामिलनाड मद्रास, त्रिचनापल्ली, मदुरा तथा निकट के कुछ स्थान, जैसे रामेश्वरम्, धनुषकोटि आदि।

केरल—एर्नाकुलम, त्रिवेंद्रम्, कन्याकुमारी आदि।

आंध्र—कर्नूल, विजयवाड़ा, गुंटूर।

राजबली पांडेय
प्रधान मंत्री

आर्यभाषा पुस्तकालय

काशी नागरीप्रचारिणी सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय आज से ६० वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था। हिंदी के विकास में इस पुस्तकालय का बहुत बड़ा योग रहा है। देश के कोने कोने से यहाँ प्रतिवर्ष छात्र आते रहते हैं। हिंदी के प्राचीन ग्रंथों तथा भारतेंदु और द्विवेदी काल की पत्र-पत्रिकाओं का जितना अच्छा संग्रह इस पुस्तकालय में है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। हिंदी के प्रायः सभी विद्वान् और डाक्टरगण आर्यभाषा पुस्तकालय के ऋणी हैं। किंतु पुरानी पत्र-पत्रिकाओं का इतना अच्छा संग्रह होते हुए भी बहुत सी फाइलें अपूर्ण हैं या एकदम नहीं हैं। अतः जिन सज्जनों के पास ऐसी पत्र-पत्रिकाएँ हों उनसे अनुरोध है कि वे उन्हें आर्यभाषा पुस्तकालय को प्रदान करने की कृपा करें। पुस्तकालय में उनका उपयोग और रक्षण भली भाँति हो सकेगा और उनके अनुशीलन से अनेक अज्ञात तथ्यों का उद्घाटन होगा। जो सज्जन ऐसी पत्र-पत्रिकाओं के प्राप्तिस्थान की भी सूचना देंगे उनका भी पुस्तकालय कृतज्ञ होगा। पत्र-पत्रिकाएँ संयोजक, आर्यभाषा पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के पते पर भेजी जा सकती हैं।

गोविंदप्रसाद केजरीवाल
संयोजक

सभा के नवीन प्रकाशन

भागवत संप्रदाय

ले० श्री बलदेव उपाध्याय, एम० ए०

भारतीय साहित्य और संस्कृति को भागवत अथवा वैष्णव धर्म की महत्त्व-पूर्ण देन सर्वविदित है। परंतु इसके मूल तथा इसके भिन्न-भिन्न संप्रदायों के विकास और इतिहास को बतानेवाला कोई खोजपूर्ण ग्रंथ हिंदी में अभी तक नहीं है। इस ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्र कर वैष्णव धर्म का उद्गम, विकास और प्रसार तथा भिन्न भिन्न वैष्णव संप्रदायों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत की है। पृष्ठ सं० ७००, सजिल्द, मूल्य ६)

भारतेंदु ग्रंथावली, भाग ३

संपादक श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल बी०

भारतेंदु-ग्रंथावली के प्रथम भाग में भारतेंदु जी के नाटकों, द्वितीय में कविताओं और इस तृतीय भाग में उनकी समस्त गद्य रचनाओं का संकलन है। इस भाग के प्रकाशन से अब भारतेंदु जी का संपूर्ण साहित्य अध्येताओं के लिये प्रस्तुत हो गया है। मूल्य ९)

हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के त्रैवार्षिक खोज-विवरण

उत्तरप्रदेशीय सरकार की सहायता से सभा द्वारा जो हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य होता है उसके सन् १९०० से १९२५ तक के विवरण उक्त सरकार द्वारा अंग्रेजी में छाप ... से ४९ तक के विवरण अब तक अमुद्रित पड़े थे। अब सरका... ...यता एवं अनुमति से सभा ने उन्हें गत वर्ष से हिंदी में छापना आरंभ किया है। निम्नलि... ... है—

(१) सन् १९२६-२८; संपादक डा० ... , ...पेजी अठपेजी पृष्ठ सं० ८४८; सजिल्द; मू० २१)

(२) सन् १९२९-३१; संपादक डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल; रा० ... पृष्ठ सं० ७०६; सजिल्द, मू० १५)

तुलसी की जीवन-भूमि

ले०—श्री चंद्रबली पांडेय

गोस्वामी तुलसीदास जी के जन्मस्थान तथा जीवनवृत्त के संबंध में कई भिन्न भिन्न मत साहित्य-समाज में प्रचलित हैं। कोई उन्हें काशी का, कोई राजापुर का और कोई सूकरखेत का कहता है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने तर्क और अध्ययन की कड़ी कसौटी पर रखकर उन समस्त मतों का विवेचन करते हुए, स्वयं गोस्वामी जी की रचनाओं से, यह निष्कर्ष निकाला है कि वे कहाँ के थे और उनका जीवनवृत्त क्या था। लेखक ने गोस्वामी जी के समसामयिक संतों और कवियों की रचनाओं की, सरकारी कागज-पत्रों की, तथा ऐसी समस्त अन्यान्य सामग्री की छानबीन अत्यंत बारीकी से की है और उन्हीं के आधार पर अपना पक्ष उपस्थित किया है। संक्षेप में, विद्वान् लेखक की दृष्टि बड़ी पैनी और सूक्ष्म तथा सिद्धांत सर्वथा मौलिक हैं। तुलसी का अध्ययन करनेवालों के लिये इस ग्रंथ का परिशीलन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। बढ़िया ऐंटिक कागज पर छपी ४०० से अधिक पृष्ठों की पक्की जिल्द की इस पुस्तक का मूल्य केवल ३) है।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रण, काशी।

उद्देश्य

का संरक्षण तथा प्रसार।

ा विवेचन।

का अनुसंधान।

ज्ञान और कला का पर्यालोचन।

न

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५९] संवत् २०११ [अंक २

प्राचीन भारतीय पंचांग और राम-चरित समयावली[1]

[श्री राय कृष्णदास]

१

अपने उपः सूक्त ऋ० के सबसे रंगीन सूक्त हैं। यही नहीं कि हमने उषा की अरुणिमा में रस लिया हो, उसके साथ-साथ हमने रात के कालेपन में भी रस लिया (ऋ० १।७३।७)। सूर्योदय का कवित्वमय वर्णन ऋ० में कितनी ही बार आया है, जिसका एक प्रतिनिधि उदाहरण ऋ० ५।४५।१० है। चंद्रमा और नक्षत्रों

१—इस लेख में व्यवहृत संकेत—

अथर्व०=अथर्व वेद, ऋ०=ऋग्वेद, ऐ० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण, कृष्ण० = कृष्ण यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता), कौ० ब्रा० = कौशीतकी ब्राह्मण, छांदोग्य० = छांदोग्य उपनिषद्, तै० आ०=तैत्तिरीय आरण्यक, तै० ब्रा० = तैत्तिरीय ब्राह्मण, पंच०=पंचविंश ब्राह्मण, यजु० = दोनों यजुर्वेद, लगध० = लगध मुनि कृत आर्च तथा याजुष ज्योतिष वेदांग, लग० = लगभग, विष्णु० = विष्णु पुराण, शत०=शतपथ ब्राह्मण, शुक्ल० = शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता)।

वाल्मीकि० = वाल्मीकीय रामायण। इस समय रामायण की मुख्य तीन वाचनाएँ प्रचलित हैं—दाक्षिणात्य, गौड़ एवं पश्चिमोत्तरीय। इस लेख में रामायण के जो अवतरण दिए गए हैं वे दाक्षिणात्य वाचना (कुंभकोणम् संस्करण) के हैं। संयोगवश